जैन भारती

अप्रैल, 2009 • वर्ष 57 • अंक 4 • वार्षिक रु. 200.00

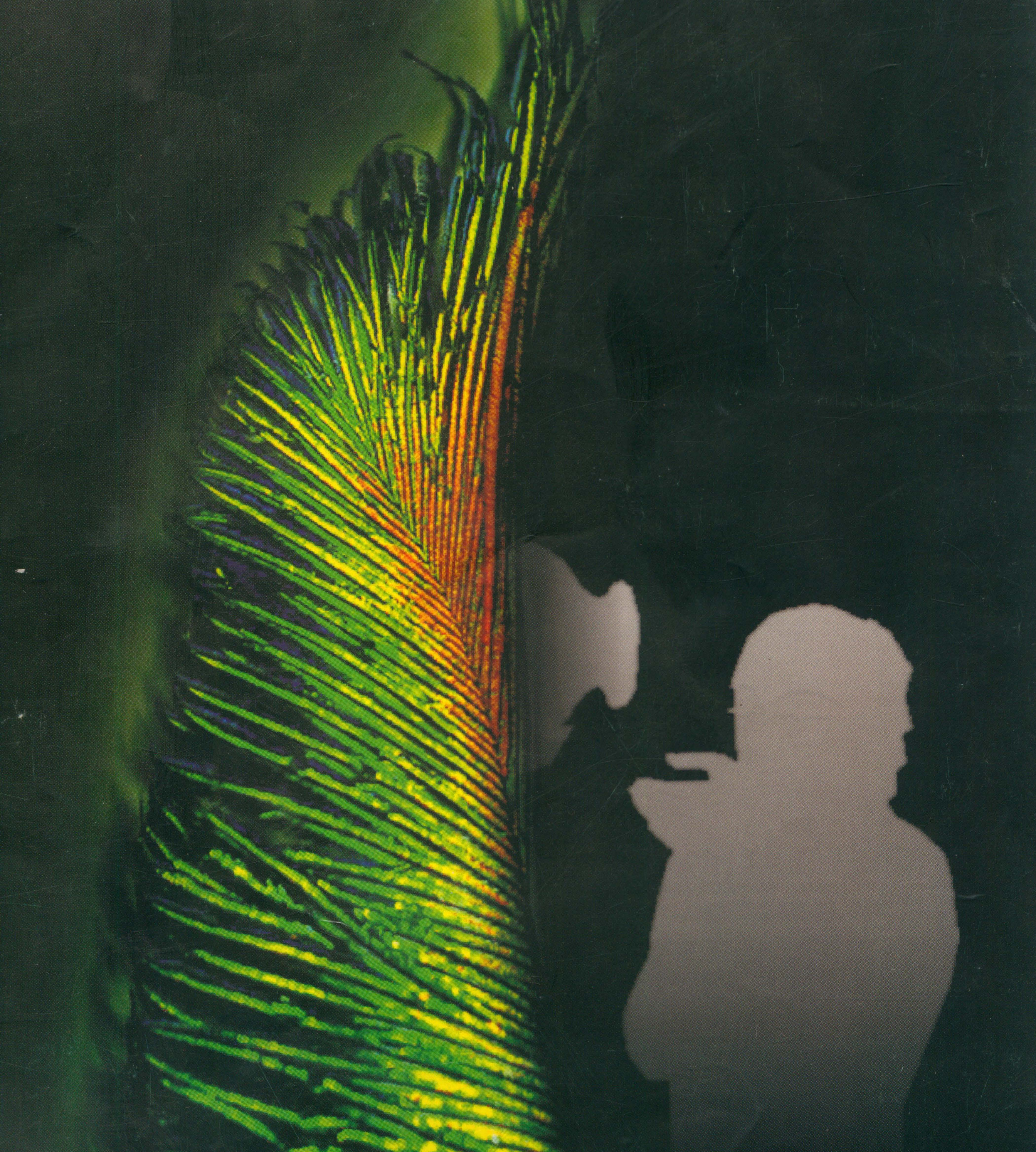

With best compliments from :

AMIT
A CHOPRA PRODUCT
Mfg. Art Silk Sarees & Dress Material

AMIT - SYNTHETICS

Shop : W-3207, Surat Textile Market
Office : 402, Anand Market, Ring Road
SURAT 395002
Phone : 0261-2322076 Fax : 02622-275120

Pemchand Chopra Charitable Trust
W-3207, Surat Textile Market
Ring Road, SURAT

•

Jhamkudevi Chopra Charitable Trust
11-A,B, Sai Ashish Society
Udhaua Magdalla Road, SURAT

शुभू पटवा
मानद संपादक
•
बच्छराज दूगड़
मानद सह-संपादक

जैन भारती

वर्ष 57 • अप्रैल, 2009 • अंक 4

विमर्श

11
आचार्यश्री महाप्रज्ञ
सत्य : सापेक्ष दृष्टि

18
जिद्दू कृष्णमूर्ति
जीने का अर्थ : समय से मुक्ति

रपट

35
95वां वार्षिक अधिवेशन

53
भवानी सोलंकी
145वां मर्यादा-महोत्सव

•

आवरण
कमल श्रीमाली

अनुभूति

27
आचार्यश्री तुलसी
पावन स्मरण तीर्थंकर ऋषभ का

30
समणी डॉ. अमितप्रज्ञा
सर्वभूतात्मभूतात्मा कुर्वन्नपि न लिप्यते

33
कि. घ. मश्रुबाला
हृदय : सर्वधर्म समभाव को समझने का सच्चा मार्ग

37
कहानी
गोविन्द मिश्र
पगला बाबा

40
कविता
नरेश मेहता की कविता

प्रसंग

7
शुभू पटवा
दुराग्रह, आग्रह और अनेकांत

शीलन

43
मुनि किशनलाल
आत्मअनुभूति : साधना का मूल

46
साध्वी कल्पमाला
स्वास्थ्य क्या है : जानें

47
वैद्य रमेश नानल
ऋतु और प्रभाव

50
बालकथा
व्यथित हृदय
नई रोशनी गांव में

संपादकीय पता : संपादक, जैन भारती, भीनासर 334403, बीकानेर • फोन : 0151-2270305, 2202505
प्रकाशकीय कार्यालय : जैन श्वेताम्बर तेरापंथी महासभा, तेरापंथ भवन, महावीर चौक, गंगाशहर, बीकानेर 334401
प्रधान कार्यालय : जैन श्वेताम्बर तेरापंथी महासभा, 3, पोर्चुगीज चर्च स्ट्रीट, कोलकाता 700001
सदस्यता शुल्क : वार्षिक 200/- रुपये • त्रैवार्षिक 500/- रुपये • दसवर्षीय 1500/- रुपये

वह वापस लेने योग्य नहीं

नाथद्वारा की घटना है। गुजरात से अन्य संप्रदाय का साधु सिंघजी आया और स्वामीजी के पास उसने दीक्षा ली। कुछ दिन वह ठीक रहा, फिर अयोग्य समझ सिरियारी में उसे संघ से अलग कर दिया। वह मांढा गांव चला गया।

फिर खेतसीजी स्वामीजी से बोले—सिंघजी को प्रायश्चित देकर उसे संघ में वापस लें। मैं जाकर उसे ले आता हूं।

तब स्वामीजी बोले—वह लेने योग्य नहीं। फिर भी खेतसीजी स्वामी कमर कस कर उसे लाने के लिए तैयार हो गए।

तब स्वामीजी बोले—उसके साथ तुमने यदि आहार कर लिया तो तुम्हारे साथ हमें आहार करने का त्याग है। यह सुनकर खेतसीजी स्वामी सिंघजी को लाने नहीं गए।

ऐसे थे शक्तिशाली भीखणजी स्वामी।

बाद में सिंघजी का समाचार सुना कि वह (किसी गृहस्थ के घर में) गुदड़ी ओढ़ चक्की के पास सो रहा है।

लोलुप वह होगा

दो साधु परस्पर आग्रह करने लगे। एक कहता है—तुम लोलुप हो। दूसरा कहता है—तुम लोलुप हो। इस प्रकार विवाद करते-करते वे स्वामीजी के पास पहुंचे। फिर भी उन्होंने विवाद नहीं छोड़ा।

तब स्वामीजी बोले—तुम दोनों 'विगय' (दूध, दही, घी आदि) खाने का त्याग करो, आज्ञा की छूट रखो। जो पहले विगय खाने की आज्ञा मांगेगा, वह लोलुप होगा। एक साधु ने लगभग चार महीनों तक विगय नहीं खाई, फिर उसने आज्ञा मांगी, तब दूसरे साधु के अपने-आप विगय खाने की छूट हो गई। इस प्रयोग से वे अपने-आप समझ गए।

अवगुण किसका देख रहे हो?

सं. 1856 की घटना है। स्वामीजी वायु की बीमारी के कारण नाथद्वारा में लगभग तेरह मास रहे। वहां मुनि हेमराजजी गोचरी गए। वे चने की और मूंग की दाल इकट्ठी ले आए।

स्वामीजी ने उसे देख पूछा—यह चने की और मूंग की दाल किसने इकट्ठी की?

तब हेमजी बोले—अनजान में ये इकट्ठी हो गई।

तब स्वामीजी ने उन्हें बहुत उलाहना दिया। तब वे एकांत स्थान में जाकर लेट गए। उदास हो गए। बाद में स्वामीजी ने आहार कर, उनके पास आकर कहा—अवगुण अपनी आत्मा का देख रहा है या मेरा?

तब हेमजी स्वामी बोले—महाराज! अवगुण तो अपना ही देख रहा हूं।

तब स्वामीजी बोले—ठीक है! आज के बाद सावधान रहना। उठो, जाओ, आहार कर लो। यह कह कर उन्हें आहार करा दिया। ●

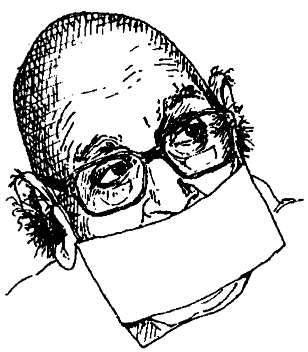

भारतीय मानस की विलक्षणता यह रही है कि उसने पदार्थ को आवश्यक मानते हुए भी उसे आस्था का केंद्र नहीं माना। उसने शस्त्र-शक्ति का सहारा लिया, पर उसमें त्राण नहीं देखा और अपने लिए दूसरों का अनिष्ट हो गया तो उसे क्षम्य नहीं माना, उसका प्रायश्चित्त किया। भारतीय मानस की यह विलक्षणता अहिंसा की चिरकालीन परंपरा से उपलब्ध है, पर विगत समय में अहिंसा की परंपरा और वैसी विलक्षणता—दोनों कुछ निष्प्राण हुई हैं। आज उन देशों में, जो भौतिक दौड़ में लगे हुए हैं, जितनी राष्ट्रीय एकता है, उतनी भारत में नहीं है। उनमें जो एकता है, वह एक दिन के प्रयत्न का परिणाम नहीं है। वर्षों के सतत प्रयत्न के बाद वे इस स्थिति में पहुंचे हैं, पर हमारे यहां ऐसा कोई सामुदायिक प्रयत्न नहीं हो पाया है। हमारे बहुत सारे विचारक स्वभाव-निर्माण के प्रयत्न को रचनात्मक काम ही नहीं मानते। मेरी दृष्टि में यह कार्य इतना महत्त्वपूर्ण है कि इसे अभी से प्राथमिकता मिलनी चाहिए। हर व्यक्ति, समाज या राष्ट्र शक्तिशाली बनना चाहता है, विकास करना चाहता है। अलगाव के वातावरण में कोई शक्ति-संचय नहीं कर सकता, विकास भी नहीं कर सकता। ये दोनों कार्य एकता की स्थिति में ही संभव हैं।

आपसी संघर्ष क्षण-भर के लिए सुखद प्रतीत होते हैं। उनके द्वारा जातीय, प्रांतीय या भाषाई हित सधता-सा लगता है, पर उनके परिणाम हितकर नहीं होते। उनसे आर्थिक शक्ति क्षीण हो जाती है। संदेह और भय के वातावरण में विकास ठप्प हो जाता है। अनेकता के दुष्परिणाम और एकता के सुपरिणाम जब संस्कारगत होते हैं, तभी एकता का विकास हो सकता है। आज एकता की चर्चा है, पर उसका संस्कार नहीं है। सतत प्रयत्न हों तो एक दिन निश्चित ही वैसे संस्कार बन जाते हैं। आज जो प्रयत्न होगा, वह अगली पीढ़ी में संस्कार बन जाएगा।

—आचार्यश्री तुलसी

व्यक्ति का सारा प्रभाव उसकी जीवन-शैली पर निर्भर है। प्रश्न है कि वह जीवन जीता कैसे है? जीना एक बात है और कैसे जीना—बिल्कुल दूसरी बात है। यदि वह कलात्मक ढंग से जीता है तो उसका जीवन बहुत सार्थक और सफल बन जाता है। यदि वह जीवन को जीना नहीं जानता, जीने की कला को नहीं जानता—तो जीवन नीरस, बोझिल और निरर्थक प्रतीत होने लग जाता है। इसलिए आवश्यक है—जीवन-शैली का ज्ञान। वर्तमान की जीवन-शैली अच्छी नहीं मानी जा रही है। इसके कई कारण हैं। भाग-दौड़, बेजा स्पर्धा, उतावली और हड़बड़ी आदि-आदि ऐसे तत्त्व जीवन में समा गए हैं, जो जीवन को सार्थक नहीं बना रहे हैं। शरीर स्वस्थ रहे—यह जीवन का एक लक्ष्य है। दूसरा लक्ष्य है—मन स्वस्थ रहे, प्रसन्न रहे। तीसरा लक्ष्य है—भावनाएं स्वस्थ रहें, निर्मल रहें और निषेधात्मक विचार न आएं, विधायक भाव निरंतर बने रहें, मैत्री और करुणा का विकास होता रहे। ये सब जीवन के उद्यान को हरा-भरा बनाने के लिए जरूरी हैं।

—युवाचार्यश्री महाश्रमण

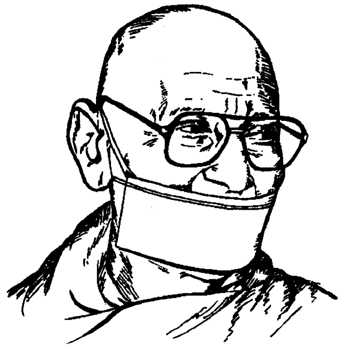

आयुर्वेद-विज्ञान की भाषा में जिसे आरोग्य कहा जाता है, अध्यात्म-विज्ञान की भाषा में उसे समता कहा जाता है। दोनों एक ही हैं। आयुर्वेद के आचार्यों ने आरोग्य की बहुत सुंदर परिभाषा दी है—'दोषाणा साम्यं आरोग्यम्'—दोनों का समीकरण आरोग्य है। परंतु प्रश्न है कि समीकरण का उपाय क्या हो ? इसका एक उपाय है—सतत स्मृति, सतत जागरूकता। मनुष्य का ऐसा निर्माण हो जाए कि विधायक भावों की स्मृति निरंतर बनी रहे। विधायक भावों के सूत्र हैं—सत्य, क्षमा, मृदुता और ऋजुता। ये सूत्र हैं, शब्द मात्र नहीं हैं। अतः इन शब्दों को रटने मात्र से कोई ऋजु या मृदु हो जाएगा, क्रूरता या माया मिट जाएगी—ऐसा घटित नहीं होगा। इन विधायक भावों का प्रतिनिधित्व करने वाले ये शब्द हैं। अतः ये केवल शब्द-भर नहीं, अपितु विधायक भावों के प्रतिनिधि हैं। जो विधायक भाव अंतराल में छिपे हुए हैं, जिन्हें देखा नहीं जा सकता, जाना नहीं जा सकता—उसके साथ संपर्क स्थापित करने के लिए ये शब्द 'संपर्क-सूत्र' हैं। आचार्यों का यह प्रतिपादित यथार्थ है कि सत्य शब्द की भावना में उतरने पर विधायक भाव जाग सकता है। इसी तरह मृदुता और ऋजुता शब्द की गहराई में डुबकियां लेने से मृदुता और ऋजुता के विधायक भाव जाग्रत हो जाएंगे। पर, एक महत्त्वपूर्ण बात यह भी है कि आचार्य कोई भी बात बतलाते हैं, तो वह 'मंत्र' रूप होती है। आचार्य का अर्थ है—मंत्रदाता। वे मंत्रदान करते हैं। मंत्र का अर्थ होता है—रहस्य, गूढ़ बात। जो छिपा रहता है, उसका कुछ-थोड़ा रूप सामने आ जाता है और कुछ छुपा का छुपा ही रह जाता है। पूरी बात न समझ में आती है और न सामने आती है। पूरी बात आचार्य ही समझा सकते हैं।

कभी-कभी ऐसा प्रतीत होता है कि सारी बातें समझ ली गई हैं और जब भेद खुलता है, तो प्रतीत होता है कि कुछ भी नहीं समझा जा सका। स्पष्ट है कि उस रहस्य की 'चाबी' आचार्य के हाथ में ही रहती है।

भावों को हम जान गए, उनका प्रतिनिधित्व करने वाला 'शब्द' भी हम जान गए, पर दोनों के बीच संपर्क-सूत्र को हम नहीं जान पाए। प्रेक्षाध्यान का अभ्यास करने वाला साधक उस संपर्क-सूत्र को भी जान जाता है। यह है—जागरूकता, भाव-क्रिया। इसका एक अर्थ है—सतत स्मृति। जिस गुण या दोष को प्रकट करना चाहते हैं, उसके प्रति सतत उपयोग, सतत स्मृति होगी तो वह अवश्य ही प्रकट होगा। कभी उस स्मृति को दीर्घकाल तक भुला दिया—तो वह प्रकट नहीं होगा। अतः सतत-धारा या अखंड-धारा बहुत महत्त्वपूर्ण है। बूंद-बूंद से वह काम नहीं हो सकता, जो काम धारा से होता है। कभी कुछ किया और कभी नहीं किया, मन हुआ तब ध्यान करने बैठ गए और मन नहीं हुआ तो दो महीने भी ध्यान नहीं किया—यह बूंद-बूंद की प्रक्रिया है। यह प्रक्रिया अधिक लाभप्रद नहीं होती। सफलता के लिए निरंतरता चाहिए। जिस भाव को हमें विकसित करना है, प्रकट करना है—उसकी सतत स्मृति करनी चाहिए। उसका निरंतर अभ्यास करने से वह अवश्य ही प्रकट हो जाता है।

अतः सतत स्मृति, सतत जागरूकता—यह 'संपर्क-सूत्र' है, जो हमें भीतरी भावों से जोड़ता है।

—आचार्यश्री महाप्रज्ञ

प्रसंग

दुराग्रह, आग्रह और अनेकांत

आग्रह मनुष्यता का स्वाभाविक गुणधर्म है और अनाग्रह उसकी सामान्य विवेकशीलता का परिचायक। मनुष्य होने का अर्थ अनाग्रह में ही निहित है, पर हम देखते हैं कि कई बार व्यक्ति दुराग्रही भी हो उठता है। उसका ऐसा दुराग्रह सामान्य समरसता का ध्वंस भी कर डालता है और ऐसी विभाजक रेखा भी खड़ी हो जाती है, जो कई बार विखंडन का सबब भी बन उठती है। स्वस्थ समाज के लिए इससे बचना जरूरी है और ऐसा तभी संभव हो सकता है जब हम अनाग्रह के स्वर को विकसित करते चले जाएं।

इस दृष्टि से आग्रह, अनाग्रह और दुराग्रह के अंतर को समझना जरूरी है। सामान्यतः आग्रहयुक्त बात करना एक प्रकार से 'ठोस' मत की श्रेणी में माना जाता है। तर्कपूर्ण तरीके से तथ्यपरकता के साथ कोई मत जब रखा जाता है तो उसमें 'हठ' या 'जिद' नहीं देखा जाना चाहिए, अपितु यह समझना चाहिए कि जो-कुछ कहा जा रहा है, वह आधारयुक्त है। विवेकवान लोग उसे विचारणीय मत मान कर ऐसी बात का सम्मान करते हुए देखे जा सकते हैं। अतः आग्रह और अनाग्रह के स्तर पर ऐसे किसी विखंडन की आशंका नहीं रहती, पर दुराग्रह की स्थिति इनसे सर्वथा भिन्न होती है। सामान्य समरसता के भंज का खतरा दुराग्रहों में ही होता है।

दुराग्रह के पीछे तर्कसंगतता, ठोस आधार और तथ्यपूर्णता कभी नहीं रहती। इसीलिए इसे व्यर्थ अथवा अनुचित आग्रह कहा जाता है और इसे स्वीकार करना सामान्यतः मुमकिन नहीं रह पाता। इससे हानि भी उठानी पड़ सकती है और सामाजिक स्तर पर दुराग्रह के लिए कोई जगह भी नहीं होती। फिर भी हम पाते हैं कि ऐसे दुराग्रही मतों से हम, हमारा समाज आज मुक्त नहीं है और बहुत बार इसके प्रतिकूल प्रभावों को झेलने के लिए भी हमें विवश होना पड़ता है। हम कह सकते हैं कि ऐसे दुराग्रहों के दंश लंबे समय तक सहने भी पड़ते हैं।

यह भी सवाल उठ सकता है कि दुराग्रह, आग्रह और अनाग्रह में निर्णायक कौन हो? निजी स्तर पर ऐसे सवालों को यदि हम टालते जाएं—जो कि अकसर होता ही है—तो यह 'मर्ज' बढ़ाते जाने का काम ही होगा और अंततः इसका असर सामाजिक स्तर पर भी नजर आने लगेगा और जिसे आज देखा भी जा सकता है। अतः बात चाहे निजी हो अथवा सामाजिक—इसे टाला नहीं जाना चाहिए। एक निर्णायक स्थिति तो

आनी ही चाहिए। इसी निर्णायक स्थिति को लाने में हम 'अनेकांत' का सहारा ले सकते हैं। अलबत्ता यह भी कहा जा सकता है कि हमें इसका सहारा लेना ही चाहिए।

यह बताने की आवश्यकता नहीं कि 'अनेकांत दर्शन' की उद्भावना श्रमण भगवान महावीर ने की। उस काल में अनेक मत-मतांतरों के बीच गहरे तनाव थे, उनसे न केवल सामाजिक समरसता का ध्वंस हो रहा था, कई तरह के चमत्कारों के जरिए आम जीवन भी दुष्प्रभावित हो रहा था और सामान्य समरसता का भंज भी हो रहा था। कह सकते हैं—तब आग्रह-भर नहीं, दुराग्रह का भी बोल-बाला था। तभी भगवान महावीर ने अनेकांत दर्शन की बात कही और—'मैं ही ठीक हूं, अन्य सभी गलत हैं'—ऐसे दुराग्रह को ध्वस्त करने का प्रयास किया। धीरे-धीरे अनेकांत दर्शन की दार्शनिक और सैद्धांतिक मीमांसाएं भी सामने आने लगीं। 'भारतीय मानस' पर इसका प्रभाव भी नजर आने लगा और दर्शन की दुनिया में अनेकांत को विमर्श का मुद्दा भी माना गया। आज हम पाते हैं कि 'अनेकांत दर्शन' को दर्शन-जगत का प्रमुख अंग मान कर विद्वत्-समाज इस पर विचार-विमर्श करता है। पर, इस सचाई को स्वीकार करना चाहिए कि अनेकांत दर्शन को लेकर अभी भी हमारी 'मनीषा' में अलग-अलग तरह के संशय मौजूद हैं। संशय होने का मतलब ही यह है कि 'विमर्श' की संभावनाएं विद्यमान हैं। किसी भी विचार या दर्शन के जीवंत होने का यह एक प्रमाण भी है।

'अनेकांत दर्शन' की यह विराटता तो सर्वमान्य है कि यहां किसी भी विचार या दर्शन के खंडन की बात नहीं की जाती। आचार्यश्री महाप्रज्ञजी के अनुसार भगवान महावीर कहते हैं—'दूसरों के प्रति ही नहीं, उनके विचारों के प्रति भी अन्याय मत करो। अपने को समझने के साथ-साथ दूसरों को भी समझने की चेष्टा करो।'—यह कथन बताता है कि भगवान महावीर अनेकांत दर्शन को मात्र बौद्धिक विमर्श तक ही सीमित रख कर नहीं देखते हैं, वे इसे जीवन-व्यवहार में भी उतरता हुआ देखना चाहते हैं।

अनेकांत दर्शन के उद्भट भाष्यकार आचार्यश्री महाप्रज्ञजी भी अनेकांत की दो मौलिक दृष्टियां मानते हैं—"निरपेक्ष और सापेक्ष'। वे कहते हैं—'अस्तित्व का निर्धारण करने के लिए निरपेक्ष दृष्टि का प्रयोग करना चाहिए। संबंधों का निर्धारण करने के लिए सापेक्ष दृष्टि का प्रयोग करना चाहिए।' वे अनेकांत के परिप्रेक्ष्य में सापेक्षता, समन्वय, सह-अस्तित्व और सत्य की खोज जैसी बुनियादी बातों को भी स्पष्ट करते हैं तथा वर्तमान समय की विषमताओं और विसंगतियों के समाधान भी अनेकांत में देखते हैं। आचार्यश्री महाप्रज्ञजी कहते हैं—'प्रणाली, रुचि, मान्यता—ये भिन्न-भिन्न होती हैं, इनमें विरोध भी होता है। सह-अस्तित्व का नियम इन सब पर लागू होता है। लोकतंत्र और अधिनायकवाद, पूंजीवाद और साम्यवाद—ये भिन्न विचार वाली राजनीतिक प्रणालियां हैं। इनमें सह-अस्तित्व हो सकता है।—या तू रहेगा या मैं, हम दोनों एक साथ नहीं रह सकते—यह एकांतवाद है। इस धारणा ने समस्या को जटिल बना दिया। एक धार्मिक विचारधारा के लोग यह सोचें—मेरे धर्म की विचारधारा को मानने वाला ही इस दुनिया में रहे, शेष सबको समाप्त कर दिया जाए—इस विचारधारा ने धार्मिक जगत की पवित्रता को नष्ट किया है।' आचार्यश्री महाप्रज्ञजी का यह मंतव्य अनेकांत दर्शन को बौद्धिक विमर्श से आगे ले जाता है और जीवन-व्यवहार में उतारता है और आज की समस्याओं के समाधान के लिए रोशनी देता है।

यदि हम अपनी 'मेधा' का उपयोग सम-सामयिक जटिलताओं के समाधान के लिए करें और उसमें से ही रास्ते तलाशने की बात सोचें—जो शायद श्रमण भगवान महावीर ने अपने समय में सोची और आज उन्हीं के अनुगामी आचार्यश्री महाप्रज्ञजी भी सोचते हैं—तो हमारे सामने एक साथ कई फलक खुल सकते हैं और जिनसे समाधान भी पाया जा सकता है। हमारी मनीषा के सम्मुख यह एक चुनौती है कि हमारी दार्शनिक विचारधाराओं में से हम वे तत्त्व निकालें जो वर्तमान जटिलताओं के बरअक्स समाधायक सिद्ध हो सकें। भारतीय मनीषा को महात्मा गांधी के इन शब्दों के साथ यह चुनौती स्वीकार करनी चाहिए। गांधी का कथन है—'तुम्हारे ज्ञान की कीमत तुम्हारे कामों से होगी। पुस्तकें मस्तिष्क में भरने की बजाए उस ज्ञान को व्यवहार में उतारने पर ही उसका मूल्य होता है।'

वाणी और व्यवहार के समन्वयक श्रमण भगवान महावीर की इसी तेरह अप्रैल (चैत्र शुक्ला तेरस) को 2608वीं जयंती है। उनकी जयंती पर हम दुराग्रह से मुक्त होते हुए आग्रह और अनाग्रह की समन्विति के साथ यदि अनेकांत के मर्म को समझें और उसे जीवन-व्यवहार का अंग बनाएं तो महावीर का वास्तविक स्मरण सिद्ध हो सकेगा।

—शुभू पटवा

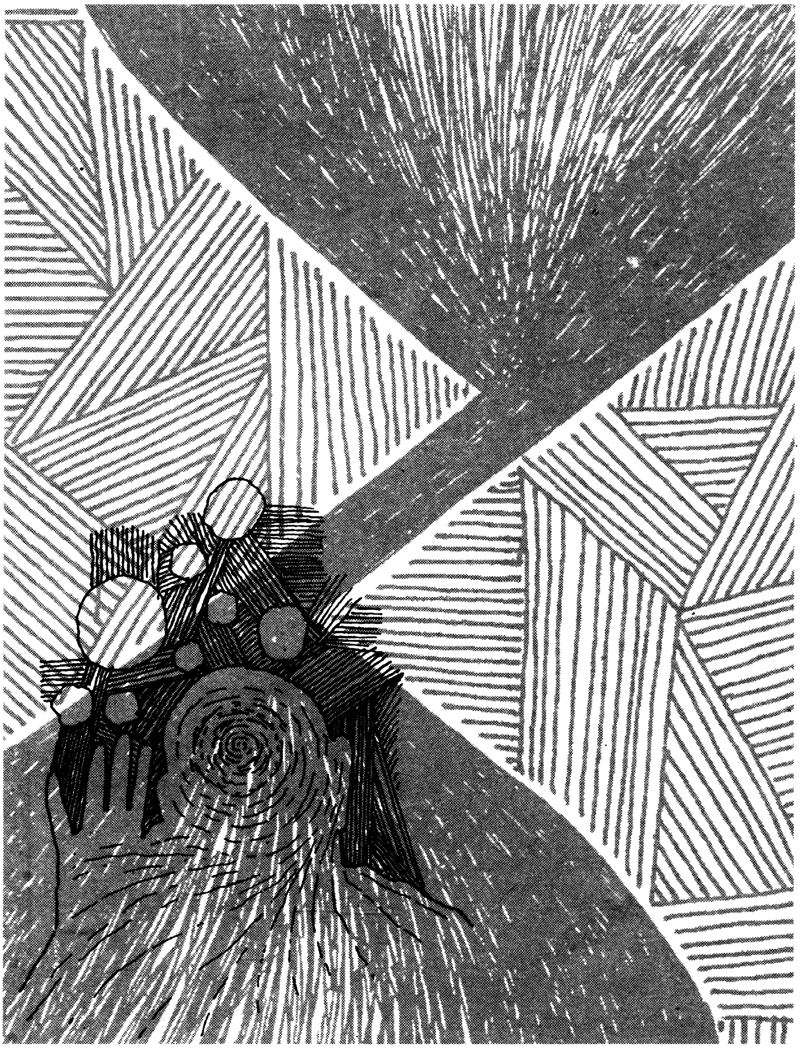

विमर्श

सच्चे ज्ञान को प्रमा कहते हैं। यथावस्तु, यथार्थ, ज्ञान को सच्चा ज्ञान कहना चाहिए। वही ज्ञान सत्य होगा, पर हम देख चुके हैं कि वस्तु अर्थात् विश्व को कई नयों से, कई दृष्टिकोणों से देखा जा सकता है। किसी एक ओर से देखने पर हाथी की सूंड हमारे सामने होगी, दूसरी ओर से कान, तीसरी ओर से पांव। हाथी एक होते हुए भी तीनों दृष्टिकोणों पर तीन भिन्न-भिन्न अर्थ हैं, अतः स्वरूपज्ञान भी भिन्न-भिन्न होगा, भिन्न-भिन्न सत्य मिलेंगे। जो वस्तु व्यावहारिक दृष्टि में मिस्री का टुकड़ा है वही रासायनिक दृष्टि में कार्बन, आर्द्रजन और आक्सीजन के चंचल परमाणुओं का ढेर है और वही भौतिक विज्ञान की दृष्टि में पिंडीभूत वायु है। एक ही वस्तु दृग्बिंदु-भेद से तीन वस्तु है और उससे संबंध रखने वाला यथा-वस्तु, यथा-अर्थ—ज्ञान भी तीन प्रकार का होगा। यह तीनों ज्ञान सत्य होंगे। इस प्रकार भिन्न-भिन्न विचारक जगत के संबंध से आंशिक सत्यों का प्रतिपादन करते आए हैं। इनमें कुछ सत्य एक-दूसरे के पूरक हैं और कुछ एक-दूसरे के अंतर्गत हैं। हाथी के हाथ-पांव के ज्ञान एक-दूसरे के पूरक हैं, परंतु मिस्री का व्यावहारिक स्वरूप उसके रासायनिक स्वरूप के अंतर्गत है। जो मनुष्य विश्व के स्वरूप को समझना चाहता हो उसमें इतनी उदारता होनी चाहिए कि विभिन्न दर्शनों के सत्यांशों को पहचान सके। इसके साथ ही उसमें इन सत्यांशों का समन्वय करने तथा स्वयं व्यापक सर्वग्राही दृष्टिकोण से निरीक्षण करने की क्षमता होनी चाहिए। इस प्रकार यथार्थ ज्ञान, परम सत्य का अनुभव हो सकेगा।

— डॉ. संपूर्णानंद

सत्य : सापेक्ष दृष्टि

❑❑ आचार्यश्री महाप्रज्ञ ❑❑

एक भाई ने पूछा—'पूर्ण कौन है?' मैंने उत्तर दिया—'मैं हूं।' फिर उसने पूछा—'अपूर्ण कौन है?' मैंने कहा—'वह भी मैं हूं।'

वह बड़ा असमंजस में पड़ गया। उसने कहा—'दोनों कैसे? पूर्ण हैं तो अपूर्ण कैसे और अपूर्ण हैं तो पूर्ण कैसे?' मुझे फिर उत्तर देना पड़ा। मैंने कहा—'मैं भाषा के जगत में जीता हूं, इसलिए दोनों हूं। मैं चिंतन के जगत में जीता हूं, इसलिए दोनों हूं। मैं स्मृति, कल्पना और बुद्धि के जगत में जीता हूं, इसलिए दोनों हूं।' भाषा के जगत में जीने वाला कोई भी व्यक्ति केवल पूर्ण नहीं हो सकता और केवल अपूर्ण भी नहीं हो सकता। भाषा-जगत से परे पूर्ण और अपूर्ण की कोई कल्पना भी नहीं है। यह हमारी भाषा की सापेक्षता है।

हमने चिंतन और भाषा के योग से बहुत सारी ऐसी कल्पनाएं कर लीं, जो भाषा को पार कर अभाषा के जगत में जाने पर, शब्दों की सीमा को लांघकर अशब्द की सीमा में जाने पर खंडित हो जाती हैं। वहां केवल अस्तित्व बचता है। जो होता है, वही बचता है। शेष सारी कल्पनाएं समाप्त हो जाती हैं। यदि यह एक सत्य समझ में आ जाए, तो बहुत सारे दार्शनिक विवाद भी समाप्त हो जाएं। दार्शनिक उलझनें, दार्शनिक विवाद—ये सारे भाषा के जगत में चलते हैं।

सत्य भाषा से परे है। सत्य का और भाषा का कभी योग नहीं हो सकता, हो ही नहीं सकता। अनेकांत दृष्टि में इस पर बहुत विशद प्रकाश डाला गया है। हम जिसे सत्य मानते हैं, वह अनेकांत की दृष्टि से सापेक्ष सत्य ही होगा। तो प्रश्न होता है कि क्या हमें सत्य को सत्य कहने का अधिकार नहीं है? हम जो भी कहें, क्या वह असत्य होगा? वह सत्य हो सकता है, यदि हम अपनी दुर्बलता को स्वीकार कर लें। यदि हम अपनी असमर्थता या भाषा की दुर्बलता स्वीकार कर लें, तो वह सत्य हो सकता है। भाषा की अक्षमता यह है कि वह एक क्षण में, एक शब्द के द्वारा किसी एक सत्य का ही प्रतिपादन कर सकती है,

प्रत्येक तत्त्व में अनंत धर्म होते हैं। एक परमाणु में भी अनंत धर्म होते हैं और वे भी विरोधी-युगल। अनंत धर्मों का एक साथ प्रतिपादन करना किसी के वश की बात नहीं है। शब्द के द्वारा एक क्षण में केवल एक पर्याय का, एक धर्म का ही प्रतिपादन किया जा सकता है। शेष अनंत रह जाता है। हम यदि एक पर्याय को सत्य मान लेते हैं, तो शेष बचे अनंत पर्याय झुठला दिए जाते हैं। अनंत सत्य खंडित हो जाता है और सत्य का एक अंश-मात्र स्वीकृत हो जाता है। इसे ही यदि पूर्ण सत्य मान लिया जाता है, तो वहां भ्रांति होती है।

जबकि सत्य अनंत होता है। वह एक शब्द के द्वारा कभी गृहीत नहीं होता।

भाषा की दुर्बलता

प्रत्येक तत्त्व में अनंत धर्म होते हैं। एक परमाणु में भी अनंत धर्म होते हैं और वे भी विरोधी-युगल। अनंत धर्मों का एक साथ प्रतिपादन करना किसी के वश की बात नहीं है। शब्द के द्वारा एक क्षण में केवल एक पर्याय का, एक धर्म का ही प्रतिपादन किया जा सकता है। शेष अनंत रह जाता है। हम यदि एक पर्याय को सत्य मान लेते हैं, तो शेष बचे अनंत पर्याय झुठला दिए जाते हैं। अनंत सत्य खंडित हो जाता है और सत्य का एक अंश-मात्र स्वीकृत हो जाता है। इसे ही यदि पूर्ण सत्य मान लिया जाता है, तो वहां भ्रांति होती है।

भाषा की यह सहज दुर्बलता है जिसे मिटाया नहीं जा सकता। आदमी सोच सकता है, पर एक क्षण में एक सत्य ही कहा जाता है। जीवन बहुत लंबा है और सारे जीवन में संपूर्ण सत्य कह ही दिया जाएगा, यह भ्रांति है। न भूतं, न भविष्यति—न ऐसा हुआ है और न ऐसा होगा। इस संसार में जन्म लेने वाले किसी भी व्यक्ति ने आज तक पूरे सत्य का न कभी प्रतिपादन किया है, न कभी कर पाएगा। संभावना भी नहीं है।

जीवन के क्षण कितने होते हैं? आयु की अवधि कितनी होती है? बहुत थोड़े क्षण हैं और छोटी अवधि है। विराट सत्य के सामने, अनंत धर्म वाले सत्य के सामने किसी भी प्राणी की आयु की सीमा तिनके पर स्थित छोटी-सी बूंद जितनी भी नहीं है। इतना अल्प आयुष्य और इतना विराट सत्य। आयुष्य उस सत्य की तलहटी को भी नहीं छू पाता।

स्यात शब्द : नया अर्थ

केवली, भगवान या सर्वज्ञ अनंत सत्य को जान लेते हैं, किंतु उनमें भी यह क्षमता नहीं है कि वे अनंत सत्य को कह सकें। यह असंभव है। कोई महान व्यक्ति, ज्ञानी व्यक्ति दस-बीस-पचास पर्यायों की अभिव्यक्ति कर सकता है। पूरे सत्य को वह कभी नहीं कह सकता। उसके द्वारा प्रतिपादित सत्य के कुछेक पर्यायों को पूर्ण सत्य मानकर अवशिष्ट पर्यायों को हम अस्वीकार कर देते हैं, नकार देते हैं—तब सत्य से हट कर असत्य की ओर चले जाते हैं। हमारा प्रस्थान असत्य की दिशा में हो जाता है। इसीलिए अनेकांत ने एक युक्ति प्रस्तुत की। कहा गया—'तुम असत्य से बच सकते हो, यदि तुम 'स्यात' शब्द का सहारा लेकर चलते हो। जो-कुछ कहा, उसके साथ 'स्यात' शब्द लगा लो। वह तुम्हें असत्य से बचा लेगा।' 'स्यात' का यहां भावार्थ होगा—'मैं पूर्ण सत्य कहने में असमर्थ हूं। सत्य का एक पर्याय मात्र प्रस्तुत कर रहा हूं।'

प्राचीन साहित्य में 'स्यात' शब्द के अनेक अर्थ मिलते हैं। मैं उसे नए अर्थ में प्रस्तुत करना चाहता हूं। 'स्यात' शब्द का अर्थ है—अपनी अक्षमता का स्वीकार, भाषा की अक्षमता की स्वीकृति। 'स्यात' शब्द का प्रयोग करने वाला व्यक्ति यह स्वीकृति पहले ही दे देता है कि मैं जो कह रहा हूं, उसे पूर्ण सत्य मत मान लेना, उसे निरपेक्ष सत्य मत मान लेना, अखंड सत्य मत मान लेना। मैं केवल सत्य के एक पर्याय का, एक अंश का प्रतिपादन कर रहा हूं। तुम्हें केवल एक अंश से परिचित करा रहा हूं। साथ ही साथ मैं पूर्ण सत्य की अभिव्यक्ति में अपनी असमर्थता प्रकट करता हूं। मुझसे पूरा सत्य कहा नहीं जा सकता। तुम्हें सत्य के निकट ले जा रहा हूं। यह है—'स्यात' शब्द की सार्थकता।

सत्य को साक्षात करने की इससे सुंदर युक्ति अन्यत्र नहीं मिलती। यदि 'स्यात' जैसा निर्वचन होता तो इतने विवाद कभी नहीं होते, आग्रह नहीं होते। आग्रह बहुत पनपा है। जिसने जो जाना, देखा—आग्रह हो गया कि बस यही सत्य है। मैं जो कहता हूं, वही सत्य है।

व्यक्ति में इतना प्रबल अहंकार और इतना बड़ा आग्रह हो जाता है कि सत्य नीचे दब जाता है और उस व्यक्ति का विचार मात्र ऊपर तैरता रहता है। विचार के बंधन से, चिंतन की कारा से तथा स्मृति, कल्पना और बुद्धि की सीमा से परे जाने का एकमात्र उपाय है—'स्यात' शब्द का सहारा। 'स्यात' शब्द अपेक्षा की ओर इंगित करता है। वह कहता है—जो-कुछ कहा गया है, कहा जा रहा है—उसे अपेक्षा से समझो। अपेक्षा से समझे बिना अर्थ का अनर्थ हो सकता है। आग्रह मत करो। अपेक्षा को समझो कि यह कथन किस अपेक्षा से, किस संदर्भ में कहा गया है। शब्द की पकड़ खतरा पैदा कर देती है। वह सत्य से दूर ले जाती है।

मैं बहुत बार सोचता हूं कि साधकगण मेरे शब्द को ही कहीं न पकड़ लें। मैं बार-बार कहता हूं—श्वास को देखना आत्मा को देखना है। कोई इस वाक्यांश के संदर्भ

को समझे बिना पकड़ न ले। अन्यथा बड़ा अनर्थ घटित हो सकता है। अगर शब्द को पकड़ लिया तो साधक श्वास में ही अटक जाएंगे। आगे बढ़ने की गति टूट जाएगी। वे कभी आत्मा तक नहीं पहुंच सकेंगे। मेरा यह कहना कि श्वास को देखना आत्मा को देखना है, असत्य नहीं है। श्वास पौद्गलिक पदार्थ है, भौतिक है। परंतु, क्या श्वास प्राण नहीं है? जहां श्वास पौद्गलिक है, पर्याप्ति है—वहां श्वास प्राण भी है। दस प्राणों में एक प्राण है—श्वास। प्राण आत्मा कैसे नहीं है? जो प्राण है—वह आत्मा है, आत्मा से जुड़ा हुआ है। यदि अपेक्षा को न समझा जाए तो बहुत अनर्थ हो जाता है। या तो हम इस बात को अस्वीकार कर दें कि श्वास को देखना आत्मा को देखना नहीं है, या फिर श्वास को देखना छोड़ दें। श्वास को देखने को छोड़ने का अर्थ है—साधना के प्रथमद्वार में प्रवेश किए बिना ही घर लौट आना। आगे के द्वार बंद ही पड़े रह जाते हैं। आगे का विकास असंभव हो जाता है और यदि हम श्वास को ही पूर्ण आत्मा मान कर अटक जाते हैं, तो आगे एक कदम भी नहीं रख पाते। वहीं गतिरोध हो जाता है।

निरपेक्ष और सापेक्ष

हम निरपेक्ष सत्य की बात न करें। सत्य की सापेक्षता को बराबर मान कर चलें कि हमारा कथित सत्य सापेक्ष ही होगा, निरपेक्ष नहीं। जहां निरपेक्ष सत्य है—वहां निरपेक्ष और सापेक्ष की भाषा नहीं होती। वहां भाषा समाप्त हो जाती है। सत्य केवल सत्य रहता है, न निरपेक्ष और न सापेक्ष। इसीलिए भगवान महावीर ने कहा—जहां वास्तविक सत्य है, वहां से भाषा लौट आती है। वहां बुद्धि भी नहीं जाती, चिंतन और मनन भी नहीं जाता। सब लौट आते हैं। वहां पहुंच ही नहीं पाते। हमारे सारे विकल्प बुद्धि और भाषा के सहारे चलते हैं। जिस व्यक्ति ने भाषा की नौकरी स्वीकार कर ली, जिसने बुद्धि, चिंतन और मनन का दासत्व स्वीकार कर लिया, उसने असत्य का दासत्व स्वीकार कर लिया।

जब हम भाषा, बुद्धि और चिंतन की नौकरी करना प्रारंभ कर देते हैं, तब सत्य के साथ हमारा कोई संबंध ही नहीं रहता। हम सत्य से परे चले जाते हैं। भाषा की दुनिया में सापेक्षता के बिना सत्य के साथ संपर्क करने का कोई उपाय नहीं है। प्रत्येक कथन सापेक्ष होता है। हमें प्रत्येक कथन की सापेक्षता से ही समझना चाहिए। प्रश्न होता है कि ऐसा क्यों समझें? उसका एक बड़ा कारण है। उसका आधारसूत्र है—गौण-मुख्य भाव। वस्तु-सत्य के दो पर्याय होते हैं। एक है—गौण पर्याय और दूसरा है—मुख्य पर्याय। एक है—व्यक्त पर्याय और दूसरा है—अव्यक्त पर्याय।

मुख्य एक ही होगा

जगत का बहुत बड़ा नियम है कि मुख्य एक होता है, दो नहीं। जहां मुख्य दो होते हैं, वहां झमेला प्रारंभ हो जाता है। ईश्वरवादियों ने ईश्वर को स्वीकार किया। उन्हें एक विशेषण लगाना पड़ा—**कर्तुमकर्तुमन्यथाकर्तु समर्थः ईश्वरः।**

न्यायशास्त्र ने कहा—ईश्वर को एक क्यों मानें? इसका युक्तिपूर्ण उत्तर देते हुए बताया गया—यदि ईश्वर को अनेक मान लें, तब सृष्टि के आदिकाल में बहुत कठिनाइयां पैदा हो जाएंगी। एक ईश्वर चाहेगा कि सृष्टि ऐसी हो और दूसरा चाहेगा कि अमुक प्रकार की हो। दोनों में विवाद हो जाएगा। सृष्टि फिर बनेगी ही नहीं। जहां अनेक होते हैं, वहां विवाद अवश्यंभावी है। एक में कोई विवाद या संघर्ष नहीं होता है। दो होते ही विवाद प्रारंभ हो जाता है। संस्कृत में 'दो' का वाचक शब्द है—द्वंद्व। इसके दो अर्थ होते हैं। एक है—संख्यावाचक 'दो' और दूसरा है—कलह, युद्ध, संघर्ष। दो होने का अर्थ है—लड़ाई, संघर्ष। लोग पूछते हैं—पति-पत्नी दो हैं। दो हैं, का अर्थ है—लड़ाई का होना। यह विश्व का नियम है। दो हों और लड़ाई न हो तो आश्चर्य माना जा सकता है। इसीलिए ईश्वरवादियों ने एक ही ईश्वर माना, जिससे कोई लड़ाई न हो, कोई विवाद न हो।

सत्य के लिए भी एक का होना जरूरी है। व्यवस्था दी गई कि वस्तु में अनंत धर्म होते हैं, किंतु उनमें एक धर्म मुख्य होगा और शेष सारे गौण होंगे। एक धर्म व्यक्त होगा और शेष सारे धर्म अव्यक्त होंगे। बहुत ही सुंदर व्यवस्था है। प्रकृति की भी यही व्यवस्था है। आदमी चलता है, तब क्या दोनों पैर साथ-साथ उठते हैं? नहीं, ऐसा कभी नहीं होता। दोनों पैर साथ उठें, तो चलना संभव ही नहीं। नियम यह है, एक पैर आगे बढ़ेगा तो दूसरा पैर पीछे खिसक जाएगा। यही गति का क्रम है। आज तक किसी ने इस नियम का अतिक्रमण कर गति नहीं की। गति होगी तो इसी क्रम से, अन्यथा स्थिति होगी—गति नहीं। एक पैर को ऊंचा कर खड़ा रहा जा सकता है। दोनों पैरों को ऊंचा कर खड़ा नहीं रहा जा सकता। आचार्य अमृतचंद्र ने एक सुंदर श्लोक लिखा है—

एकेनाकर्षन्ती श्लथयन्ती वस्तुतत्त्वमितरेण।
अन्तेन जयति जैनी नीतिर्मन्थाननेत्रमिव गोपी।।

ग्वालिन बिलोना करती है, तो एक हाथ आगे जाता है और दूसरा पीछे खिसक जाता है और जब दूसरा आगे जाता है, तो पहला पीछे चला जाता है। इसी क्रम से मक्खन मिलता है। दोनों हाथ यदि एक साथ आगे या पीछे चलें, तो बिलोना नहीं होगा, नवनीत नहीं मिलेगा।

लोकतंत्र का विकास इसी गौण-मुख्य व्यवस्था के आधार पर हुआ है। एक व्यक्ति मुख्य बनता तो शेष गौण होकर पीछे चले जाते। दूसरा कोई मुख्यता में आता तो पहले वाला पीछे खिसक जाता। यह उचित व्यवस्था है। जब एक कुर्सी पर सौ आदमी बैठना चाहें तो लोकतंत्र की व्यवस्था टूट जाती है।

अनेकांत का यह महत्त्वपूर्ण सूत्र है—एक मुख्य होगा, शेष सारे गौण हो जाएंगे। इसी आधार पर सापेक्षता का विकास हुआ। जो मुख्य होगा, वह दूसरों की अपेक्षा कर के चलेगा। वह कभी निरपेक्ष होकर नहीं चलेगा। सब उसके साथ जुड़े होते हैं और वह सबको अपने साथ जोड़े रखता है। कोई भी निरपेक्ष नहीं हो सकता। हम यह न भूलें कि समूचे जगत की व्यवस्था सापेक्षता के आधार पर चल रही है। कुछ भी और कोई भी निरपेक्ष नहीं है। भाषा और व्यवस्था के जगत में कोई निरपेक्ष हो ही नहीं सकता। सबके-सब सापेक्ष हैं।

ध्यान-काल में मैं कहता हूं—आंखें बंद कर लें। इसको भी निरपेक्ष न मानें। साधना के क्षेत्र में अनेकांत का पूरा उपयोग होता है। हमें सापेक्षता का उपयोग करना है। आंख बंद करें। किसलिए? इसके पीछे बहुत बड़ी अपेक्षा है कि बाहर से आने वाले प्रभाव साधक को प्रभावित न करे। साधक प्रभावों से बच जाए। तो क्या खुली आंखों से ध्यान हो सकता है? खुली आंखों से भी ध्यान हो सकता है। बहुत अच्छा हो सकता है। जब विकल्प अधिक आने लगें, सताने लगें, तब खुली आंखों से ध्यान करना लाभप्रद होता है, विकल्प एक साथ समाप्त हो जाते हैं। फिर प्रश्न होता है कि क्यों नहीं खुली आंखों से ही ध्यान किया जाए? खतरे को भी समझ लें। जब आंखें बंद होती हैं, तब बाहर को देखना बंद हो जाता है और भीतर अधिक सक्रिय बन जाते हैं। जब खुली आंखों से ध्यान किया जाता है, तब बाहर को देखने लग जाते हैं और भीतर से कुछ हट जाते हैं। भगवान महावीर ने इसीलिए तीसरी बात कही कि ध्यान-काल में आंखें अधमुंदी रहें, न पूरी खुली और न पूरी बंद, अधखुली आंखें—ध्यान करने का यह सबसे अच्छा तरीका है। इसका बहुत बड़ा लाभ है। इससे हमें यह बोध होता रहेगा कि एक बाहर की दुनिया है और एक हमारे भीतर की दुनिया है। आंख आधी बंद है, इसका अर्थ है कि बाहर की दुनिया से भी संपर्क को तोड़ो। आंख आधी खुली है, इसका अर्थ है कि भीतर में भी कुछ है, उससे संपर्क जोड़ो। दोनों ओर हमारी दृष्टि लगी रहे। हम बाहर के जगत को भी स्वीकार करें और भीतर के जगत को भी स्वीकार करें। यह बाहर और भीतर—दोनों सापेक्ष हैं। भगवान महावीर ने कहा—**जहा अंतो तहा बाहिं, जहा बाहिं तहा अंतो**—जैसा भीतर में है, वैसा बाहर में है और जैसा बाहर में है, वैसा भीतर में है। साधक दोनों को स्वीकार करे।

सापेक्षता : महान विज्ञान

'स्यात' शब्द सापेक्षता का सूचक है। उसके बिना सत्य को जाना नहीं जा सकता और उसकी व्याख्या भी नहीं की जा सकती। यह सचाई हजारों वर्ष पूर्व प्रकट हो चुकी थी, किंतु हमारे दार्शनिक इसे पकड़ नहीं पाए। हमें साधुवाद देना चाहिए विज्ञान को, जिसने यह सप्रमाण प्रतिपादित किया कि सापेक्षता के बिना सत्य की व्याख्या नहीं की जा सकती। उसने इस सचाई को इतनी प्रखरता से पकड़ा कि आज समूचा विज्ञान सापेक्षता के सिद्धांत पर चल रहा है। सापेक्षता का सिद्धांत जब तक विकसित नहीं हुआ था, तब तक की सारी मान्यताएं, विज्ञान की सारी धारणाएं, मिथ्या प्रमाणित हो रही थीं। आज भौतिक विज्ञान के क्षेत्र में, गणित के क्षेत्र में, सांख्यिकी विज्ञान के क्षेत्र में अनेकांत का खुलकर प्रयोग किया जा रहा है, सापेक्षता का उपयोग मुक्तभाव से हो रहा है। आज विज्ञान की यह महत्त्वपूर्ण मान्यता है कि सापेक्षता के बिना किसी महान की व्याख्या नहीं की जा सकती। जब महान वैज्ञानिक आइंस्टीन ने कहा कि देश और काल सापेक्ष हैं, तब वैज्ञानिक जगत में एक भयंकर हलचल हुई थी। अनेक वैज्ञानिकों ने इसको स्वीकार नहीं किया। उनकी समझ में नहीं आ रहा था कि 'देश और काल' सापेक्ष कैसे हो सकते हैं? किंतु, धीरे-धीरे यह सापेक्षता बुद्धिगम्य होती गई, प्रमाणित होती गई और आज देश-काल की सापेक्षता का सिद्धांत सर्वमान्य हो गया।

हम सारी घटना की व्याख्या देश और काल के आधार पर करते हैं, किंतु यह भुला देते हैं कि देश और काल सापेक्ष हैं। देश-काल के सापेक्ष होने की बात एक

वैज्ञानिक ने कही, न कि अनेकांत और स्याद्वाद को मानने वाले जैनों ने। उन्होंने इस दिशा में कोई महत्त्वपूर्ण काम नहीं किया। कितना अच्छा होता कि जो बात आइंस्टीन ने कही, वह बात कोई जैन दार्शनिक कहता, अनेकांतवाद को मानने वाला प्रतिपादित करता। क्या उनके सामने ये कल्पनाएं स्पष्ट नहीं थीं? सापेक्षता का विचार स्पष्ट नहीं था? सारी कल्पनाएं और विचार स्पष्ट थे, पर नए संदर्भ में उसके कथन की बात नहीं सूझी। क्या जैन मानते हैं कि काल निरपेक्ष है? नहीं, काल सर्वथा सापेक्ष है।

हमने काल को तीन भागों में विभाजित किया—भूतकाल, भविष्यकाल और वर्तमानकाल। क्यों विभाजित किया? काल कभी विभक्त होता नहीं, टूटता नहीं। काल कभी ऐसा नहीं होता कि आप उसे अतीत मानें। आज का वैज्ञानिक इस ओर परीक्षण में संलग्न है कि दो हजार, पांच हजार वर्ष पूर्व हुए महावीर, बुद्ध, कृष्ण आदि महान व्यक्ति को साक्षात संदेश देते हुए आज के आदमी को दिखा दिया जाए। वर्तमान में जीने वाला आदमी महावीर और बुद्ध को प्रवचन करते हुए साक्षात देख ले, उसके प्रवचन सुन ले। वह महावीर को समता और अहिंसा का प्रवचन करते हुए, बुद्ध को करुणा का संदेश देते हुए और कृष्ण को गीता का उपदेश करते हुए साक्षात देख ले, दिखा दिया जाए। क्या ऐसा संभव हो सकता है? साधारण व्यक्ति के लिए यह असंभव प्रतीत हो सकता है, क्योंकि जो मर चुके, समाप्त हो चुके, जिनके पार्थिव शरीर जला दिए गए—उनको कैसे दिखाया जा सकता है? यह तो अतीत की घटना हो गई। अतीत को वर्तमान के रूप में कैसे रूपायित किया जा सकता है? मेरे लिए और आपके लिए यह अतीत की घटना हो सकती है, किंतु दिक् और काल को सापेक्ष मानने वाले वैज्ञानिकों के लिए वह अतीत की घटना नहीं है।

चिंतन की प्रक्रिया और उनके चित्र

हम इस बात को भूल जाते हैं कि जैन आगमों में पांच प्रकार के ज्ञान प्रतिपादित हैं। उनमें चौथा है—मनःपर्यवज्ञान। इस ज्ञान का अधिकारी दूसरों के मन को पढ़ने वाला होता है। वह दूसरों के विचारों को जान लेता है। नंदी-सूत्र में ज्ञान की विशद चर्चा है। इस ज्ञान की चर्चा करते हुए सूत्रकार ने कुछ प्रश्न उपस्थित किए हैं और उनका समाधान भी दिया है। प्रश्न है—क्या मनःपर्यवज्ञानी दस हजार वर्ष पूर्व हुए किसी व्यक्ति के विचारों को जान सकता है? उत्तर की भाषा में कहा गया—हां, वह बहुत ही विशद रूप से जान सकता है। फिर प्रश्न पूछा गया—क्या मनःपर्यवज्ञानी पचास हजार वर्ष पश्चात् होने वाले व्यक्ति के विचारों को जानने में सक्षम है? काल एक हो गया—न अतीत रहा और न भविष्य रहा, सारा वर्तमान हो गया। वह सापेक्ष हो गया। जिसको हम दस हजार वर्ष पहले का मानते हैं, वह आज भी है। जिसको हम पचास हजार वर्ष बाद होने वाला मानते हैं, वह आज भी है। कैसे? जैन दार्शनिकों ने इसकी स्पष्ट व्याख्या की है। उन्होंने कहा है—हमारा मन पौद्गलिक है। हम पुद्गलों के माध्यम से चिंतन करते हैं। पुद्गलों की वर्गणाएं हैं, उनके समूह और संघात हैं। हमने चिंतन के लिए पुद्गलों का ग्रहण किया। चिंतन करने के बाद उन पुद्गलों का विसर्जन कर दिया। वे पुद्गल आकाश में व्याप्त हो गए। आकाश एक बड़ा भंडार है, खजाना है, अद्भुत है। वहां बहुत कुछ पड़ा है। अच्छा है कि आज का आदमी उसे देख नहीं पा रहा है, अन्यथा वह उस विशाल भंडार को लूटने के लिए ललचा जाए। अन्यान्य खजानों का और भंडारों का मोह भी उसका टूट जाए। यदि आदमी आकाश के इस अनंत खजाने की खोज में निकल पड़े, तो शेष सारे खजानों की खोज समाप्त हो जाएगी। जहां हम बैठे हैं, वहां न जाने कितने प्राणियों के सोचे हुए चित्र लटक रहे हैं। लाखों-करोड़ों चित्र हैं। उन चित्रों को हम देख सकते हैं। चित्र चित्र के रूप में बने हुए हैं। इन चित्रों को किसी चित्रकार ने चित्रित नहीं किए। किंतु, प्रत्येक आदमी जो सोचता है, वह उसके मन में चित्र रूप में उभरता है। चिंतन का चित्र पढ़ा नहीं जाता, देखा जाता है। चिंतन भाषा में नहीं होता, चित्र में होता है। आप जानते हैं कि कुछेक राष्ट्रों की लिपि चित्रात्मक है। उनका सारा व्यवसाय चित्र के माध्यम से होता है, लिपि के द्वारा नहीं, अक्षरों के द्वारा नहीं।

हमारे मन का कार्य है—चित्र तैयार करना। एक आदमी मकान के बारे में सोचता है तो दिमाग में मकान का चित्र बन जाता है। मोटरकार के विषय में सोचता है तो मस्तिष्क में मोटर का चित्र बन जाता है और रोटी के बारे में सोचता है तो रोटी का चित्र उभर आता है। न जाने एक दिन में हम कितने-कितने चित्रों का निर्माण कर लेते हैं। विश्व में ऐसा एक भी चित्रकार नहीं है, जो एक दिन में इतने चित्र बना सके। सारे चित्रकार मिल कर भी इतने चित्र नहीं बना सकते। कौन व्यक्ति ऐसा है जो चित्रकार नहीं है? हम सब चित्रकार हैं। दुनिया उसी को चित्रकार मानती है जो दस-बीस-पचास चित्र बना लेता है। परंतु, आज प्रत्येक आदमी

हजारों-लाखों-करोड़ों चित्र बनाता है, पर दुनिया उसे चित्रकार नहीं कहती। बड़ी विचित्र बात है। यह काल्पनिक तथ्य नहीं है, एक यथार्थ है।

तदाकार रश्मियों का विसर्जन

प्रत्येक व्यक्ति के मस्तिष्क में चिंतन के चित्र उभरते हैं। जैसा चिंतन होता है, वैसा ही चित्र बन जाता है। दूसरा चित्र आते ही पहला चित्र मस्तिष्क से निकल कर आकाश के भंडार में समा जाता है। यह क्रम चलता रहता है। जो चित्र आकाश के भंडार में चला जाता है, वहां वह लाखों-करोड़ों-अरबों वर्षों तक पड़ा भी रह सकता है। फिर महावीर हमें उपदेश देते हुए दिखाई दे दें तो आश्चर्य क्यों हो? फिर हमें क्यों आश्चर्य हो कि ऋषभ और बुद्ध हमें साक्षात दिखाई दे जाएं? उनके चित्र नहीं हैं, किंतु जैसा चित्र हमारे मन का होता है, वैसा ही रूप या चित्र हमें दिखाई दे जाता है। एक सिद्धांत है—हर वस्तु रश्मिवान होती है। प्रत्येक वस्तु में से रश्मियां निकलती हैं। यह बहुत ही महत्त्वपूर्ण सिद्धांत है। वस्तु चाहे सचेतन हो या अचेतन, आदमी हो या पशु, घड़ा हो या मकान—सब में से तदाकार रश्मियां निकलती हैं और वे समूचे आकाश में व्याप्त हो जाती हैं। यदि ऐसा नहीं होता तो 'टेलीविजन' का विकास नहीं होता। उस पर किसी का चित्र नहीं उभरता। यह चित्र तभी उभरता है—जब तदाकार रश्मियां निकलती हैं। हमारे शरीर का चित्र निकलता है। हमारी वाणी का चित्र निकलता है। हमारे मन का चित्र निकलता है। मनोवर्गणा, वचनवर्गणा और कायवर्गणा तथा अन्यान्य वर्गणाओं के पुद्गल समूचे आकाश में व्याप्त हैं।

सापेक्षता ही सब-कुछ

यदि हमारी चेतना देश और काल की सीमा को तोड़ कर अनंत में चली जाए, विराट हो जाए तो भूतकाल समाप्त हो जाएगा, भविष्यकाल समाप्त हो जाएगा, केवल वर्तमानकाल रह जाएगा। केवल वह होता है, जिसकी चेतना अनंत हो जाती है। हम अनंत के अर्थों में न उलझें। इतना तो स्पष्ट है कि 'केवली' के लिए न भूतकाल होता है और न भविष्यकाल होता है। वे समाप्त हो जाते हैं। वह प्रत्येक घटना को, चाहे फिर वह अतीत में घटित हुई हो, या भविष्य में घटित होने वाली हो—वर्तमान प्रत्यक्ष रूप से देखता है। सामने घटित होती हुई देखता है। उसके लिए केवल 'आज' बचता है, वर्तमान बचता है। एक बात है—जब भूत और भविष्य नहीं रहते, तो वर्तमान भी नहीं रहता। ये तीनों शब्द समाप्त हो जाते हैं। केवल घटना रहती है। जो है, वह रहता है—उसके सामने। अनंतकाल में भी वह लुप्त नहीं होती। अतीत का अनंत और भविष्य का अनंत—केवल अनंत रह जाता है, सारी सीमाएं समाप्त हो जाती हैं। क्या सापेक्षता के बिना ऐसा संभव हो सकता है?

देश-काल की सीमा में बंधने वाला कोई भी निरपेक्ष नहीं हो सकता। देश-काल हमारी घटनाओं के साथ जुड़े हुए हैं। वे इसलिए जुड़े हुए हैं कि किसी भी घटना की व्याख्या देश-काल के बिना नहीं हो सकती। हमने इन दो आयामों का सहारा लिया। इनके सहारे घटनाओं की व्याख्या की। इनके बिना व्याख्या संभव नहीं हो सकती। कभी देश का कथन करना पड़ता है और कभी काल का कथन करना पड़ता है। कहा जाए—दाएं चलो, बाएं चलो। कौन दाएं और कौन बाएं? देश के बिना व्याख्या नहीं हो सकती। किसी एक बिंदु को मान कर हम दाएं-बाएं का प्रयोग कर सकते हैं। अन्यथा न दायां है और न बायां। कुछ भी नहीं होता। अभी यहां दिन के साढ़े तीन बजे हैं। क्या मास्को में भी यही समय है—अभी? क्या वहां भी अभी दिन है? दिन और रात की व्याख्या सापेक्षता के बिना नहीं हो सकती। सापेक्षता के बिना ऊपर और नीचे की व्याख्या नहीं हो सकती। ऊपर और नीचे—किस आधार पर कहते हैं? जब पृथ्वी को चपटी मान कर उसकी व्याख्या की, तब ऊंचाई-निचाई की बात आई। जब पृथ्वी को गोल मान कर व्याख्या की, तब ऊंचाई भी सापेक्ष हो जाती है। गोलाई में ऊंचाई नहीं होती। ऊंचाई, निचाई, छोटा, बड़ा—ये सारे सापेक्ष हैं। कौन छोटा और कौन बड़ा? कुछ भी नहीं। मात्र सापेक्षता है।

अध्यापक ने विद्यार्थी से कहा—ब्लैक बोर्ड पर जो लाइन खींची गई है, उसको मिटाए बिना छोटी कर दो। मिटाना भी नहीं और छोटी भी कर देना—यह कैसे संभव हो सकता है? विद्यार्थी बुद्धिमान था। उसने छोटी लाइन के नीचे एक बड़ी लाइन खींच दी, अब वह लाइन स्वतः छोटी हो गई।

छोटा-बड़ा सब सापेक्ष होता है। हलका और भारी सापेक्ष है। गुरुत्वाकर्षण की सीमा में हलका भी होता है और भारी भी होता है। जहां गुरुत्वाकर्षण की सीमा समाप्त होती है, वहां हलकापन भी नहीं रहता और भारीपन भी नहीं रहता। चिकना, मृदु और कठोर—तीनों सापेक्ष हैं। कौन चिकना? कौन मृदु? कौन कठोर? सारे सापेक्ष हैं। सारे यौगिक हैं। हमारी सारी बातें सापेक्ष होती हैं। जब हम

'स्यात' शब्द को अस्वीकार कर देते हैं, अपेक्षा को भुला देते हैं, वहां बड़ी कठिनाई पैदा हो जाती है। बतलाया गया है कि देवताओं का आयुष्य करोड़ों-करोड़ों वर्षों का होता है। यह आश्चर्यकारी कथन लगता है। परंतु, कोई आश्चर्य नहीं है। हम सापेक्षता को न भूलें। जो अंतरिक्ष गुरुत्वाकर्षण से परे है, वहां काल की सीमा समाप्त हो जाती है। यहां का हजारों वर्षों का काल-माप, वहां एक क्षण जैसा भी नहीं होता।

जैनागमों में एक प्रसंग आता है। कोई व्यक्ति मरा। वह स्वर्ग में गया। उसने सोचा—मैं फिर जाऊं मनुष्यलोक में और मेरे परिवार वालों से मिलूं। मन में बात आई और उसने तैयारी शुरू की। सब देव बोले—कहां जा रहे हो? उसने कहा—मनुष्यलोक में जा रहा हूं, अपने परिजनों से मिलने के लिए। वे बोले—अभी-अभी आए थे। दो मिनट ठहरो। यहां की रंगरेलियां देखो। वह ठहर जाता है। उसे लगता है, क्षण भर हुआ है। वह वहां से चल कर मनुष्यलोक में आता है। मां, बाप, भाई, बहिन और मित्रों को खोजता है। पूछता है—लोगों से। कोई कुछ भी नहीं बता सकते। हजारों-लाखों वर्ष बीत चुके होते हैं। हजारों पीढ़ियां बीत चुकी होती हैं। उसे लगता है—क्षण-भर बीता है, पर यहां के हजारों-लाखों वर्ष बीत जाते हैं।

अनेकांत के दो सूत्र

सत्य की खोज भूलभुलैया न बने। सत्य की खोज में चलने वाला असत्य की भूलभुलैया में न उलझ जाए। इन सारी समस्याओं से निबटने के लिए अनेकांत ने दो महत्त्वपूर्ण सूत्र दिए हैं, जिनका विस्तार से प्रतिपादन किया गया है। वे दो आधार सूत्र हैं—गौण और मुख्य। व्यक्ति एक मुख्य धर्म को जानता है, एक व्यक्त-पर्याय को जानता है, जो पर्याय सामने है—उसे जानता है, किंतु इस बात को नहीं भूलना चाहिए कि उसके पीछे अनंत धर्म अभिव्यक्ति की टोह में प्रतीक्षारत रहते हैं। उस एक व्यक्त-पर्याय के साथ अनंत अव्यक्त-पर्याय छिपे रहते हैं।

अनेकांत ने कहा—मुख्य का प्रतिपादन करो, पर निरपेक्ष दृष्टि से मत करो। कथन के साथ 'स्यात' शब्द जोड़ दो। इससे यह स्पष्ट होगा कि प्रतिपादन मुख्य का हो रहा है। शेष सारे गौण हैं। किंतु, यदि हम मुख्य-धर्म को ही पूर्ण सत्य मान लें, तो भटक जाएंगे। सत्य की डोर हमारे हाथ से छूट जाएगी और तब वह आंशिक सत्य भी असत्य बन जाएगा। सत्य के लिए सापेक्षता को नहीं छोड़ा जा सकता, 'स्यात' शब्द को कभी अस्वीकार नहीं किया जा सकता। जिन-जिन दार्शनिकों या विचारकों ने 'स्यात' शब्द का यथार्थ मूल्यांकन नहीं किया और 'स्यात' शब्द की उपेक्षा की वे सब एकांगिता में चले गए। उनका प्रतिपादन एकांगी हो गया।

वास्तविकता यह है कि प्रत्येक कथन के पीछे अपेक्षा जुड़ी रहती है। वह कथन किसी एक दृष्टि से ही किया जाता है। यदि हम उस अपेक्षा को समझ सकें, यदि हम उस दृष्टि को पकड़ सकें—तब हमारा प्रस्थान सत्य की दिशा में हो सकता है, अन्यथा नहीं। आज यह सद्यस्क आवश्यकता है कि हम 'स्यात' शब्द के हार्द को समझ कर उसका अधिकतम उपयोग करें।

'स्यात' है ऋजुमार्ग

प्रत्येक कथन आपेक्षिक होता है। निरपेक्ष कथन नहीं हो सकता। अनेकांत हमें इस अपेक्षादृष्टि को पकड़ने का बोध देता है, हमारा मार्ग प्रशस्त करता है। इससे राग-द्वेष कम होता है, पकड़ कमजोर होती है। 'स्यात' शब्द का प्रयोग एक ऐसा ऋजु मार्ग है, जिसके सहारे हम विषम घाटियों को पार कर जाते हैं। यह एक ऐसा राजमार्ग है—जिसके सहारे ऊबड़-खाबड़ भूमि को समतल बना कर अपनी यात्रा सहज संपन्न कर सकते हैं। हम इस सापेक्षता के महान सिद्धांत का सही मूल्यांकन करें और सत्य की महान यात्रा में इसका अधिकतम प्रयोग करें। ❖

उत्तम शिक्षण की जो कसौटियां हैं, उनमें से एक यह भी है कि वह युवकों में अपना भावी जीवन विवेकपूर्वक चुनने की क्षमता उत्पन्न करे। हमारे देश में, जहां कि चारों ओर अभाव–ही–अभाव हैं, अपने मनोनुकूल मार्ग चुनने की अधिक स्वतंत्रता नहीं है। इसके साथ ही ऐसे चुनाव में तीव्र प्रतिद्वंद्विता का भी सामना करना पड़ता है। फलतः बहुतों को अपेक्षाकृत कम रुचिकर व्यवसाय चुनना पड़ता होगा। किंतु, इसमें निराशा की कोई बात नहीं। सारे संसार में अत्यधिक संख्या में स्त्री–पुरुषों को कम रुचिकर व्यवसाय चुनने पड़ते हैं और फिर भी ऐसा नहीं लगता कि उनका चुनाव अच्छा नहीं हुआ।

—जयप्रकाश नारायण

जीने का अर्थ : समय से मुक्ति

□□ जिद्दू कृष्णमूर्ति □□

हममें से प्रत्येक व्यक्ति यह जानना चाहता है कि स्वाभाविक आचरण क्या है? यह एक अत्यंत गंभीर प्रश्न है और जो व्यक्ति सचमुच गंभीर हैं, उनके लिए यह प्रश्न दार्शनिक या धार्मिक मनोरंजन के लिए नहीं है। हम किसी सिद्धांत या दर्शन (फिलासफि) में डुबकियां नहीं लगा रहे हैं और न ही दूर देश के आकर्षक विचारों और धारणाओं से हम प्रभावित हैं। हमें तथ्यों की तथ्यपरक ढंग से-परीक्षा करनी है—अत्यंत ध्यानपूर्वक, वस्तुपरक ढंग से, भावना और भावुकता से मुक्त होकर। इस ढंग से छानबीन करने के लिए पूर्वाग्रहों, संस्कारों एवं विश्वासों से मुक्ति होनी चाहिए; हर तरह के दर्शन (फिलासफि) से मुक्ति होनी चाहिए। हमें भी अत्यंत धैर्यपूर्वक छानबीन करनी है, ताकि हम तथ्य की वास्तविकता का पता लगा सकें।

योग्य वैज्ञानिकों का कोई समूह जब किसी चीज को माइक्रोस्कोप के नीचे देखता है, तो वे सभी वस्तुतः एक ही तथ्य का अवलोकन करते हैं। यदि हम प्रयोगशाला में कार्यरत एक वैज्ञानिक हैं, तो हम अपने माइक्रोस्कोप से जो-कुछ देखते हैं, तो उसे दूसरे वैज्ञानिकों को दिखाने में भी हमको समर्थ होना चाहिए, ताकि यह पुष्ट हो सके कि हम ठीक-ठीक उसे देख पाए, जो कि वास्तव में है।

माइक्रोस्कोप एक यंत्र है, जिसका हम सभी अवलोकन कर सकते हैं, इस बात का ध्यान रखते हुए कि हमें अपने स्वभाव, संस्कार या अपने किसी विश्वास विशेष के अनुसार नहीं सीखना है, बल्कि 'जो है' उसी का सिर्फ अवलोकन करना है और इस अवलोकन द्वारा सीखना है। और इस 'सीखने' में ही 'करना' निहित है—'सीखना' वस्तुतः क्रिया से अलग नहीं है।

अतः सर्वप्रथम हम जो करने जा रहे हैं, वह है—इस बात को समझना कि संवाद करने का क्या अर्थ है। हमें शब्दों का प्रयोग तो करना ही पड़ेगा, किंतु शब्दों के पार जाना कहीं अधिक महत्त्वपूर्ण और आवश्यक है। इसका अर्थ है, खोज-बीन की एक ऐसी यात्रा हम करने

प्रश्न हो सकता है कि हम एक-दूसरे के प्रति 'स्वयं' कैसे हो सकते हैं? 'स्वयं होना'—क्या यह पूछा जा सकता है कि हमारा 'स्वयं' क्या है? जब हम 'दूसरे के प्रति स्वयं' की बात करते हैं, तो हमारा यह 'स्वयं' क्या है? हमारा क्रोध, हमारी कटुता, हमारी कुंठाएं, हमारी निराशाएं, हमारी आशाएं, हमारी हिंसा, हममें प्रेम का नितांत अभाव—क्या यही सब वह है जो हम हैं? ऐसा नहीं सोचें कि मैं दूसरे के साथ 'स्वयं' कैसे हो सकता हूं? हम स्वयं को जानते ही नहीं हैं। हम यही सब हैं और दूसरा भी वही सब-कुछ है—उसका दुख, उसकी समस्याएं, उसकी मनोदशाएं, उसकी कुंठाएं, उसकी महत्त्वाकांक्षाएं—और हर व्यक्ति इन्हीं चीजों से निर्मित एक अलगाव और पृथकता में जीता है।

जा रहे हैं, जहां हममें से प्रत्येक व्यक्ति दूसरे के साथ सतत सहभागिता की स्थिति में होगा—साथ-साथ सम्मिलित होते हुए, साथ-साथ छानबीन करते हुए, साथ-साथ अवलोकन करते हुए। क्योंकि संवाद का अर्थ ही सहभागी होना, आदान-प्रदान करना है। अत: यहां न कोई गुरु है, न कोई शिष्य और न ही कोई वक्ता है—जिसको आप सुन रहे हैं, सहमत या असहमत होते हुए—क्योंकि यह बेतुका है। यदि हम संवाद कर रहे हैं, तो सहमति या असहमति का कोई प्रश्न ही नहीं है—क्योंकि हम सभी किसी चीज को देख रहे हैं, उसकी परीक्षा कर रहे हैं—श्रोता या वक्ता के दृष्टिकोण से नहीं, बल्कि वस्तुपरक ढंग से।

इसलिए यह अत्यंत आवश्यक है कि हम पता लगाएं कि साफ और स्वच्छ दृष्टि से कैसे अवलोकन किया जाता है, कैसे देखा जाता है तथा सम्यक् ढंग से कैसे सुना जाता है—ताकि हमारे देखने और सुनने में कोई परिवर्तन न आए। मिल-जुलकर एक साथ सम्मिलित होना श्रोता और वक्ता, दोनों का उत्तरदायित्व है—अत: हम साथ-साथ कार्य करने जा रहे हैं। और, एक बात हमें शुरू से ही बिल्कुल अच्छी तरह समझ लेनी चाहिए कि हम भावुकता और भावनाओं में नहीं बहने जा रहे हैं।

इस प्रकार हम अपने पूर्वाग्रहों, अपने विश्वासों तथा अपने विशेष ज्ञान और संस्कारों से मुक्त होकर जांच-पड़ताल करने के लिए स्वतंत्र हैं। तब हम आगे बढ़ सकते हैं—इस बात का ध्यान रखते हुए कि हम अत्यंत सूक्ष्म एवं समर्थ यंत्र से तथ्यों को देखने जा रहे हैं। और, दूसरी बात यह है कि हमें एक ही चीज देखनी चाहिए, अन्यथा संवाद कर पाना संभव नहीं होगा। जैसा कि यह एक अत्यंत गंभीर विषय है, इसलिए हमें न केवल इसकी छानबीन करने के लिए स्वतंत्र होना चाहिए, बल्कि इसे अपने दैनिक जीवन में आजमाने के लिए और लागू करने के लिए भी स्वतंत्र होना चाहिए, ताकि हम इसे एक सिद्धांत या परिकल्पना के रूप में ही न रखे रह जाएं, जिसकी ओर हमें कार्य करते रहना है।

अब हम इस ओर नजर डालें कि संसार में क्या हो रहा है? हर तरह की हिंसा चल रही है, न केवल बाह्यरूप से, बल्कि हमारे परस्पर संबंधों के भीतर भी। धर्म और राष्ट्रीयता के अनंत विभाजन लोगों के बीच मौजूद हैं, हर व्यक्ति दूसरे के विरोध में खड़ा है—राजनीतिक रूप से और व्यक्तिगत रूप से भी। इस व्यापक दुर्व्यवस्था और इस असीम दुख को देखते हुए हम क्या करेंगे? क्या हम दूसरे व्यक्ति पर निर्भर रह सकते हैं—किसी गुरु, विशेषज्ञ या मनोविश्लेषक पर—जो हमको बताए कि हमें क्या करना है? किंतु, ये लोग सुख, शांति, आनंद या जीने की स्वतंत्रता कहां ला पाए हैं ? तो हम किसकी खोज करेंगे? एक व्यक्ति के रूप में यदि हम स्वयं अपनी सत्ता का उत्तरदायित्व ग्रहण करते हैं, क्योंकि बाह्य सत्ता में अब हमारी कोई आस्था नहीं रह गई है—हम यहां सत्ता शब्द का प्रयोग जान-बूझकर एक विशेष अर्थ में कर रहे हैं—तब एक व्यक्ति के रूप में क्या हम अपने भीतर ही स्वयं की सत्ता को खोजने का प्रयास करेंगे?

वैयक्तिकता ऐसी चीज है, जो विभाज्य नहीं है, जिसे खंडित नहीं किया जा सकता। वैयक्तिकता एक समग्रता है, एक पूर्णता है और जो चीज समग्र है—वह स्वस्थ भी है; जो चीज पूर्ण है—वह पवित्र भी है। किंतु, इन अर्थों में हम व्यक्ति हैं ही नहीं—हम स्वस्थचित्त और संतुलित भी नहीं हैं—क्योंकि हम अपने भीतर खंडित और विभाजित हैं। हम स्वयं अपने साथ असंगति में हैं—स्वयं से पृथक और अलग—इसलिए हम व्यक्ति हैं ही नहीं। अत: इस विभाजन और खंडता के कारण हम भला कैसे पूछ सकते हैं कि एक खंड की सत्ता दूसरे खंडों पर कैसे स्थापित हो?

हम इसको अत्यंत स्पष्टता से देखें कि इसी की जांच-पड़ताल हम कर रहे हैं, क्योंकि हम देख रहे हैं कि शिक्षा, विज्ञान, राजनीति, संगठित धर्म और इनके प्रचार—ये सब के सब असफल हो चुके हैं। ये पृथ्वी पर शांति नहीं ला पाए हैं। यद्यपि वैज्ञानिक और तकनीकी स्तर पर मनुष्य अविश्वसनीय रूप से आगे बढ़ चुका है, किंतु वह स्वयं आज भी वही है जो वह हजारों वर्ष पूर्व था—लड़ाकू, लोभी, ईर्ष्यालु, हिंसक और अत्यंत दुख से बोझिल। यह एक मान्यता नहीं है, बल्कि यही तथ्य है।

अत: अव्यवस्था, क्रूरता और दुख से भरे इस संसार में हम क्या करें? यह पता लगाने के लिए हमें न केवल जांच-पड़ताल करनी है कि जीवन क्या है—जैसा यह वस्तुत: है—बल्कि हमें यह भी समझना है कि प्रेम क्या है और मरने का क्या अर्थ है? हमें यह भी समझना है कि हजारों वर्ष से मनुष्य आखिर किस चीज की खोज करता चला आ रहा है—अर्थात् क्या कोई ऐसी सचाई है, जो समस्त विचार के पार हो? जब तक हम इस पूरी तस्वीर की जटिलता को समझ नहीं लेते, तब तक यह कहना कि मैं एक खंड विशेष के संबंध में क्या करूं—इसका कोई अर्थ

नहीं है। हमें वस्तुतः इस समग्र अस्तित्व को समझना है, इसके एक खंड को ही नहीं। भले ही यह खंड कितना ही थकाने वाला, कितना ही पीड़ादायी और कितना ही क्रूर क्यों न हो, लेकिन हमें पूरी तस्वीर को देखना है—अर्थात् प्रेम क्या है, ध्यान क्या है, क्या ईश्वर जैसी कोई चीज है, जीने का क्या अर्थ है—इस पूरी की पूरी तस्वीर को। अस्तित्व की इस घटना को हमें समग्र रूप से समझना होगा। तभी हम यह प्रश्न कर सकते हैं—'मुझे क्या करना है?'—और यदि हम इस पूरी तस्वीर को देखते हैं, तो संभवतः हम यह प्रश्न कभी करेंगे भी नहीं—क्योंकि तब हम जी रहे होंगे और तब जीना ही सही क्रिया है।

अतः सर्वप्रथम हम यह देखने जा रहे हैं कि जीना क्या है, और जीना क्या नहीं है। हमें यह भी समझना है कि—'अवलोकन करना'—शब्द का क्या अर्थ है? देखना, सुनना और सीखना—'देखना' का क्या अर्थ है?

जब हम मिल-जुलकर एक साथ किसी चीज को देखते हैं तो इसका अर्थ संग-साथ और सामीप्य नहीं है। इसका केवल इतना ही अर्थ है कि श्रोता और वक्ता, दोनों ही किसी चीज को देख रहे हैं। 'देखना' शब्द का क्या अर्थ है? देखना वस्तुतः एक बिल्कुल ही कठिन चीज है; हमारे पास देखने की कला होनी चाहिए। संभवतः हमने कभी एक पेड़ को नहीं देखा है, क्योंकि जब हम पेड़ पर नजर डालते हैं, तो हमारा सारा वनस्पति-ज्ञान बीच में आ जाता है। और, यह पेड़ का सही-सही अवलोकन करने में हमारे लिए बाधा बन जाता है। संभवतः हमने अपनी पत्नी या अपने पति, अथवा अपनी प्रेमिका या अपने प्रेमी को भी कभी नहीं देखा है, क्योंकि हमने उसके बारे में अपने मन में एक प्रतिमा बना रखी है—जो प्रतिमा हमने उसके बारे में या स्वयं अपने बारे में बना रखी है—वह हमारे देखने में बाधा बनती है। इसलिए जब हम देखते हैं तो इस देखने में विकृति आ जाती है, विसंगति आ जाती है। अतः जब हम देखें, तो अवलोकन करने वाले और अवलोकन की जाने वाली वस्तु के बीच एक आत्मीय संबंध के साथ देखें। इस बात को हृदयंगम कर लें, क्योंकि इसके लिए परम सावधानी चाहिए। हमें पता होगा कि जब हम किसी चीज के प्रति सावधान होते हैं, तो हम उसका ध्यानपूर्वक अवलोकन करते हैं—जिसका अर्थ है, उस समय हम स्नेह से भरे होते हैं और तभी हम वस्तुतः अवलोकन करने में समर्थ हैं।

अतः मिल-जुलकर एक साथ देखने का अर्थ है—सावधानी और स्नेह से देखना, जिससे हम साथ-साथ बिल्कुल एक ही चीज को देख पाएं। परंतु, सर्वप्रथम हमारे पास हमारी जो प्रतिमा है, उससे मुक्त होना चाहिए। अर्थात्, स्वयं को अपनी प्रतिमा से मुक्त कर डालें। इसे याद रखें कि वक्ता मात्र एक दर्पण है और इसलिए इस दर्पण में हमें जो दिखाई पड़ता है—वह हम स्वयं ही हैं। अतः वक्ता किसी भी तरह महत्त्वपूर्ण नहीं है, महत्त्वपूर्ण वही है—जो हम इस दर्पण में देखते हैं। और, बिना किसी विकृति के साफ-साफ और सही-सही देखने के लिए हमारे सभी पूर्वाग्रह समाप्त हो जाने चाहिए, हर प्रकार की प्रतिमा विदा हो जानी चाहिए—यह प्रतिमा कि हम भारतीय या अमरीकन हैं, हिंदू या ईसाई हैं, धनी या गरीब हैं। और, ये सब के सब उसी क्षण विदा हो जाते हैं, जब हम अपने सामने की वस्तु को स्पष्टतापूर्वक देखते हैं। और हम जो देखते हैं, वही अधिक महत्त्वपूर्ण है, न कि यह बात कि हम जो देखते हैं, उससे हमको क्या 'करना चाहिए'। जब हम अत्यंत स्पष्टता से देखते हैं, तो उस स्पष्टता से ही क्रिया का जन्म होता है। जो मन अस्त-व्यस्त और अव्यबस्थित होता है तथा जो चुनाव करने में लगा रहता है, केवल ऐसा मन ही पूछता है—'आखिर मैं करूं तो क्या करूं?' राष्ट्रीयता एक खतरनाक चीज है—विभिन्न कौमों और जातियों के बीच विभाजन; यह विभाजन सबसे बड़ा खतरा है, क्योंकि विभाजन में असुरक्षा है, अनिश्चितता है, युद्ध है। परंतु, जब मन इस विभाजन के खतरे को अत्यंत स्पष्टतापूर्वक देख लेता है—बौद्धिक रूप से नहीं, भावनात्मक रूप से भी नहीं, बल्कि वास्तविक रूप से—तो एक सर्वथा भिन्न प्रकार की क्रिया जन्म लेती है।

अतः यह सीखना अत्यंत आवश्यक है कि कैसे देखें, कैसे अवलोकन करें। और, आखिर हम किस चीज का अवलोकन कर रहे हैं? केवल बाहरी घटना का नहीं, बल्कि मनुष्य की आंतरिक दशा का भी; क्योंकि जब तक मनुष्य के मानस में एक मौलिक और आत्यंतिक क्रांति नहीं आ जाती, तब तक परिधिगत काट-छांट और वैधानिक परिवर्तन का शायद ही कोई मतलब है। अतः हमारा सरोकार जिस बात से है, वह यह है—क्या मनुष्य, जैसा वह है, स्वयं के भीतर एक आमूल रूपांतरण ला सकता है? किसी विशेष सिद्धांत या किसी विशेष दर्शन (फिलासफि) द्वारा नहीं, बल्कि वस्तुतः जो वह है—उसे देखने के द्वारा। जो वह है, उसका अवलोकन ही आमूल परिवर्तन ले आएगा। और, जो कार्य सबसे आवश्यक और महत्त्वपूर्ण है, वह है—

उसको देखना, जो वह है—न कि जो वह सोचता है, कि वह है, न कि जो उसे बताया जाता है, कि वह है।

हम दो स्थितियों की कल्पना करें। एक, जब कोई हमसे कहता है कि हम भूखे हैं और दूसरा, जब हम सचमुच भूखे होते हैं—इन दोनों बातों में फर्क है। ये दो सर्वथा भिन्न दशाएं हैं। जब वस्तुतः स्वयं अपने प्रत्यक्ष ज्ञान और अनुभूति द्वारा यह जानते हैं कि हम भूखे हैं, तो हम में क्रिया होती है। किंतु, यदि हमसे कहा जाए कि हम भूखे हो सकते हैं, तो फिर हममें एक बिल्कुल ही भिन्न तरह की क्रिया होगी। इसी प्रकार व्यक्ति को स्वयं अपने लिए यह अवलोकन करना और देखना होगा कि वह वस्तुतः क्या है? और, यही हम करने भी जा रहे हैं—स्वयं को जानना। स्वयं को जानना सर्वोच्च विवेक और बुद्धिमत्ता है, बहुत थोड़े से व्यक्तियों ने ही स्वयं को जाना है। हमारे पास वह धैर्य, तीव्रता, आवेग और उत्कटता नहीं है, जो हम पता लगा सकें कि हम क्या हैं? हमारे पास ऊर्जा है, किंतु यह ऊर्जा हमने दूसरों को सौंप दी है। तो हम कैसे पता लगाएंगे कि हम क्या हैं?

हम स्वयं के अवलोकन द्वारा ही यह पता लगाने जा रहे हैं। क्योंकि हम जो-कुछ हैं, उसमें किसी क्षण एक आमूल परिवर्तन होगा, हम जगत में शांति ले आएंगे। हम स्वतंत्रतापूर्वक जिएंगे, जिसका यह अर्थ नहीं कि हम जो चाहेंगे वह करेंगे, बल्कि हम सुखपूर्वक जिएंगे—हर्ष और आनंद के साथ। जिस आदमी के हृदय में परम हर्ष और आनंद है, उसके पास घृणा और हिंसा नहीं होती, वह दूसरे का विनाश नहीं करता। स्वतंत्रता का अर्थ है, आप अपने भीतर जो-कुछ देखें, उसके प्रति बिल्कुल ही निंदा का भाव न हो। और, हममें से अधिकांश व्यक्ति ही निंदा करते हैं, या सफाई देते हैं, या औचित्य सिद्ध करते हैं—हम समर्थन या निंदा के बिना कभी देखते ही नहीं। इसलिए पहली चीज जो करने की है—और संभवतः यही अंतिम चीज भी है करने की—वह है, किसी भी प्रकार की निंदा के बिना अवलोकन करना। और, यह आसान काम नहीं है, क्योंकि हमारी पूरी संस्कृति और परंपरा यही कहती आई है कि हम जो-कुछ हैं, उसकी हम निंदा करें या उसका समर्थन करें, या उसकी तुलना किसी और चीज से करें। इसलिए हम प्रायः ऐसा करते हैं—'यह सही है', 'यह गलत', 'यह सत्य है', 'यह मिथ्या है', 'यह सुंदर है'—और यही कारण है कि हम जो-कुछ हैं, उसका हम ठीक-ठीक अवलोकन नहीं कर पाते।

हम यह बात अच्छी तरह सुन और समझ लें कि हम जो-कुछ हैं, वह एक जीवित चीज है और हम अपने भीतर जो-कुछ देखते हैं, उसकी जब हम निंदा करते हैं, तो हम उस स्मृति के आधार पर निंदा कर रहे हैं—जो मृत है, जो अतीत है। इस प्रकार स्पष्टतः जीवित वर्तमान और मृत अतीत के बीच एक असंगति खड़ी हो जाती है। जो जीवित है—उसे समझने के लिए और जो अतीत है—उसे चला ही जाना होगा, ताकि हम वर्तमान में ठहरकर देख सकें, अवलोकन कर सकें। और, इसे हम अभी कर सकते हैं अर्थात् इसी दौरान, इस पर सोचने-विचारने की जरूरत नहीं। क्योंकि, जैसे ही हम इस पर सोचते-विचारते हैं कि चूक जाते हैं। इसका अर्थ यह नहीं कि हम यहां समूह-चिकित्सा का प्रयोग कर रहे हैं, अथवा सार्वजनिक स्वीकारोक्ति दे रहे हैं—ये तो बचकानी बातें हैं। जो हम कर रहे हैं, वह यह है कि हम अपने भीतर जाकर छानबीन कर रहे हैं, वैज्ञानिकों की भांति—बिना किसी पर निर्भर हुए। यदि हम किसी व्यक्ति पर आस्था रखते हैं, तो भटक जाना अवश्यंभावी है—चाहे यह आस्था अपने गुरु पर हो, अपने मनोविश्लेषक पर हो, या आस्था स्वयं अपनी ही स्मृति, अपने ही अनुभव पर क्यों न हो—क्योंकि यह अतीत है। और, यदि हम वर्तमान को अतीत की आंखों से देख रहे हैं, तो हम कभी नहीं समझ पाएंगे कि जीवित चीज क्या होती है?

तो हम साथ-साथ इस जीवित चीज की जांच-पड़ताल कर रहे हैं—जीवित चीज, यानी जो हम हैं, जो यह जीवन है तथा यह और चाहे जो-कुछ भी हो। हम अपने आंतरिक जगत के किसी भी तथ्य और घटना को लें तथा इसे देखें। उदाहरण के तौर पर हम हिंसा को लें एवं सर्वप्रथम अपने भीतर की हिंसा को देखें और तब बाहरी हिंसा को देखें। जब हम अपने भीतर की हिंसा को समझ जाएंगे तो बाहरी हिंसा को देखना आवश्यक नहीं भी हो सकता है, क्योंकि हम अपने भीतर जो-कुछ हैं, वही हम बाहर प्रक्षेपित करते हैं। हमने प्रकृति द्वारा, आनुवंशिकता द्वारा, तथाकथित विकास द्वारा अपने भीतर इस हिंसा को जन्म दिया है। यह एक तथ्य है—हम हिंसक मानव हैं। हम हिंसक क्यों हैं, इसकी हजार व्याख्याएं हैं। किंतु, हम व्याख्याओं में नहीं उलझेंगे, अन्यथा हम भटक सकते हैं। क्योंकि, हर विशेषज्ञ की अपनी व्याख्या होगी, अपना निष्कर्ष होगा—कि यही है हिंसा का असली कारण! हमारे पास जितनी अधिक व्याख्याएं होती हैं, उतना ही हम सोचते

हैं कि हमने समझ लिया है—परंतु, तथ्य ज्यों का त्यों बना रहता है। अतः हम हर समय खयाल में रखें कि किसी भी तथ्य की व्याख्या स्वयं वह तथ्य नहीं है, किसी भी चीज का वर्णन स्वयं वह वर्णित चीज नहीं है। हिंसा की ऐसी अनेक व्याख्याएं हैं जो बहुत कुछ सरल और स्पष्ट हैं—महानगरों की भीड़-भाड़, अत्यधिक जनसंख्या, आनुवंशिकता और इसी तरह की अन्य बातें। किंतु, हम इन सबको किनारे रख सकते हैं, क्योंकि तथ्य तो यही है कि हम हिंसक लोग हैं। बचपन से ही हमें हिंसक, प्रतिस्पर्धात्मक और एक-दूसरे के प्रति पाशविक होने के लिए शिक्षित और संस्कारित किया जाता है। दुर्भाग्यवश हमने इस तथ्य का कभी सामना नहीं किया है। तो अब हम पूछ रहे हैं—'हिंसा के संबंध में हम क्या करेंगे?'

हम यह बात सावधानीपूर्वक, स्नेहपूर्वक और ध्यानपूर्वक समझें। जब हम इस तरह का प्रश्न उठाते हैं—हम इस संबंध में क्या करेंगे—तो हमारा उत्तर सदा अतीत के अनुसार ही होगा। क्योंकि अतीत ही एक मात्र चीज है, जिसकी हमको जानकारी है—हमारा समस्त अस्तित्व अतीत पर आधारित है, हमारा जीवन अतीत मात्र है। यदि हमने कभी सही ढंग से स्वयं को देखा है, तो हमने ध्यान दिया होगा कि हम किस असाधारण सीमा तक अतीत में जी रहे हैं। समस्त विचार-प्रक्रिया अतीत की प्रतिक्रिया है, अर्थात् यह स्मृति, ज्ञान और अनुभव की प्रतिक्रिया है। इस प्रकार विचार-प्रक्रिया कदापि नई नहीं है, कदापि मुक्त नहीं है। विचार की इसी प्रक्रिया के साथ हम जीवन को देखते हैं और इसलिए जब हम पूछते हैं कि हिंसा के संबंध में मैं क्या करूं, तो इसका अर्थ है कि हम तथ्य से पहले ही पलायन कर चुके हैं।

तो हिंसा क्या है—क्या इसे हम जान सकते हैं और इसका अवलोकन कर सकते हैं? अब प्रश्न यह है—हम हिंसा को कैसे देखते हैं? क्या हम इसकी निंदा करते हैं? क्या हम इसका समर्थन करते हैं? यदि नहीं, तो हम इसे कैसे देखते हैं, हम इसे अभी क्यों नहीं देखते—इस चर्चा के दौरान ही! और, यह देखना वस्तुतः अत्यावश्यक है। हिंसा के तथ्य को—और यह तथ्य, एक हिंसक मानव के रूप में, हम स्वयं हैं—क्या इस तथ्य को हम एक बाहरी व्यक्ति की तरह देखते हैं, भीतर की ओर झांकते हुए? अथवा देखते समय हम एक बाहरी व्यक्ति नहीं रहते, नियंत्रक और निर्णायक नहीं रहते? जब हम देखते हैं तो क्या उस समय हम द्रष्टा बने रहते हैं? द्रष्टा, जो स्वयं को उस चीज से भिन्न मानता है, जिसे यह देखता है। द्रष्टा जो कहता है—'मैं हिंसक हूं, परंतु मैं हिंसा से छुटकारा पाना चाहता हूं।'—जब हम इस ढंग से देखते हैं, तो हम एक खंड को अन्य खंडों से अधिक महत्त्वपूर्ण मान रहे हैं। पहला खंड द्रष्टा स्वयं है और दूसरे खंड वे दृश्य हैं, जिसे द्रष्टा देख रहा है।

इस प्रकार जब हम एक खंड बन कर देखते हैं, जो दूसरे खंडों को देख रहा है, तो वह एक खंड सत्ता धारण कर लेता है और यह सत्ता असंगति एवं द्वंद्व उत्पन्न करती है। किंतु, जब हम इस खंड से मुक्त होकर देखते हैं, तभी हम द्रष्टारहित होकर समग्र को देख पाते हैं। क्या यह सब हम समझ रहे हैं? यदि हां, तो कृपया इसे स्वयं कीजिए। क्योंकि, तब हम एक असाधारण और अपूर्व चीज घटित होते हुए देखेंगे, तब द्वंद्व स्वतः हमसे विदा हो जाएगा। द्वंद्व वही है, जो हम हैं, जिसके साथ हम जीते हैं—घर में, कार्यालय में, सोते-जागते। हर समय हम द्वंद्व में रहते हैं, एक सतत संग्राम और असंगति की स्थिति में हम जीते हैं।

अतः जब तक हम स्वयं इस असंगति की जड़ को नहीं 'समझ' लेते, तब तक हमको सुख-शांति और आनंद का जीवन उपलब्ध नहीं हो सकता। और, यह 'समझ' वक्ता या किसी अन्य व्यक्ति के कहे अनुसार नहीं होनी चाहिए, बल्कि यह 'समझ' स्वयं हमारे भीतर घटित होनी चाहिए। अतः यह आवश्यक है कि हम इसे समझें कि कौन-सी चीज द्वंद्व उत्पन्न करती है और इस प्रकार असंगति भी, अर्थात् इनका मूल कारण क्या है? मूल कारण वस्तुतः द्रष्टा और दृश्य के बीच विभाजन है। द्रष्टा कहता है—'मुझे हिंसा से छुटकारा पाना ही चाहिए', या 'मैं एक अहिंसा का जीवन जी रहा हूं', जबकि वह वस्तुतः हिंसा से भरा हुआ है तथा अहिंसा का केवल ढोंग और दिखावा कर रहा है। अतः इस विसंगति और विभाजन के कारण का पता लगाना ही सर्वोच्च महत्त्व की बात है।

यह जो कहा गया है, उसकी कोई सत्ता नहीं है। क्योंकि यहां न कोई गुरु है, न कोई शिष्य—यहां केवल मानव है, ऐसा मानव जो एक द्वंद्वरहित जीवन का पता लगाने की कोशिश कर रहा है—शांतिपूर्वक जीने के लिए, अगाध प्रेम के साथ जीने के लिए। किंतु, यदि हम किसी व्यक्ति का अनुसरण कर रहे हैं, तो हम न केवल अपना सर्वनाश कर रहे हैं, बल्कि उस व्यक्ति का भी। जो बात

महत्त्वपूर्ण और आवश्यक है, वह यह कि हम एक भिन्न प्रकार के जीवन को समझें और जिएं—इस नीरस और बेकार जीवन को नहीं, जिसे व्यक्ति जिए चला जा रहा है।

स्वयं अपने अवलोकन द्वारा इस बात को अपने लिए देख और समझ लेना अत्यंत आवश्यक है कि जब तक द्रष्टा और दृश्य के बीच विभाजन मौजूद है, तब तक द्वंद्व भी स्थायी रूप से कायम रहेगा—'मैं' के रूप में, 'अहं' के रूप में। और, यह 'मैं' सदा किसी और व्यक्ति से भिन्न होने की चेष्टा करता रहता है। क्या यह बात स्पष्ट है? स्पष्टता का अर्थ है कि हम इस बात को अपने लिए स्वयं देखें। यह मात्र शाब्दिक स्पष्टता नहीं है—कुछेक शब्दों और विचारों को सुन लेना। वस्तुतः इस स्पष्टता का अर्थ है कि हम स्वयं बिना किसी चुनाव के अत्यंत स्पष्टतापूर्वक देख रहे हैं कि द्रष्टा और दृश्य के बीच का यह विभाजन किस प्रकार उपद्रव, अव्यवस्था और दुख का सृजन करता है। तो जब हम हिंसक हो जाएं, उस समय क्या हम अपने भीतर हिंसा को देख सकते हैं, बिना उस स्मृति, औचित्य और आग्रह के कि मुझे हिंसक होना ही नहीं चाहिए? बल्कि हम उस हिंसा को केवल देखें। इसका अर्थ है कि हमको अतीत से मुक्त होना चाहिए। देखने का अर्थ है कि हमारे पास वृहत ऊर्जा होनी चाहिए, तीव्रता होनी चाहिए। हममें आवेग, आवेश और उत्कटता होनी चाहिए, अन्यथा हम देख ही नहीं सकते। जब तक हमारे पास परम उत्कटता और तीव्रता नहीं है, तब तक हम किसी बादल के सौंदर्य को नहीं देख सकते, उन अद्‌भुत पहाड़ियों को नहीं देख सकते जो चारों ओर फैली हुई हैं। इसी तरह से, द्रष्टारहित होकर स्वयं को देखने के लिए प्रचंड ऊर्जा और उत्कटता होनी चाहिए। और, यह उत्कटता, यह तीव्रता तब नष्ट हो जाती है, जब हम निंदा या समर्थन करने लगते हैं, जब हम कहते हैं—'मुझे ऐसा नहीं होना चाहिए', 'मुझे ऐसा होना ही चाहिए', या जब हम कहते हैं—'मैं एक अहिंसक जीवन जी रहा हूं'—अर्थात् जब हम अहिंसक जीवन जीने का ढोंग करते हैं।

यही कारण है कि समस्त विचारधाराएं अत्यंत विनाशकारी हैं। भारत में अति प्राचीन समय से हिंसा की चर्चा होती रही है। उनका कहना है कि हम अहिंसा की साधना कर रहे हैं, और वस्तुतः वे उतने ही हिंसक हैं, जितना कोई भी व्यक्ति। अहिंसा का आदर्श उन्हें तथ्य से एक पाखंडपूर्ण पलायन की अनुभूति देता है। यदि हम समस्त विचारधाराओं और सिद्धांतों को एक किनारे रखकर सीधे-सीधे तथ्य का सामना कर सकते हैं, तो इसका अर्थ है कि अब हमारा संबंध वास्तविक चीज से है—पौराणिक और सैद्धांतिक चीजों से नहीं।

अतः पहली चीज यही है—द्रष्टारहित होकर देखना और अवलोकन करना—अपनी पत्नी, अपने बच्चों को बिना किसी प्रतिमा के देखना। यह प्रतिमा एक सतही प्रतिमा हो सकती है, अथवा यह अचेतन के गर्भ में छिपी हुई प्रतिमा हो सकती है। तो, हमको न केवल उस प्रतिमा का अवलोकन करना है, जिसे हमने अपने बाह्य-संबंधों में निर्मित कर रखा है, बल्कि उन प्रतिमाओं का भी, जिन्हें हमने अपने अंतरतम में संजो रखा है—कौम और जाति की प्रतिमा, संस्कृति की प्रतिमा तथा हमारे पास स्वयं हमारी अपनी जो प्रतिमा है, उसका ऐतिहासिक परिप्रेक्ष्य। अतः हमको न केवल चेतन तल पर अवलोकन करना चाहिए, बल्कि अपनी चेतना के अज्ञात तलों पर भी जाकर अवलोकन करना चाहिए—अपने मन के गुप्त स्थानों में पैठ कर।

पता नहीं, हमने कभी मन के अचेतन हिस्से का अवलोकन किया है, या नहीं? क्या इस सब में हमारी दिलचस्पी है? क्या हम जानते हैं कि यह सब कितना कठिन है? किसी व्यक्ति को उद्धृत करना, अथवा हमारे मनोविश्लेषक या प्रोफेसर ने हमको जो बताया है, उसे दोहराना एकदम आसान है—जैसे कि यह बच्चों का खेल है। किंतु, यदि हम इनके बारे में जानने के लिए किताबें पढ़ने के बजाय, स्वयं अवलोकन करें तो हम देखेंगे कि यह कार्य कितना कठिन है ! यह पता लगाना हमारे ध्यान का अंग है कि अचेतन मन को कैसे देखें—स्वप्नों द्वारा नहीं, अंतःप्रेरणा द्वारा नहीं, क्योंकि हमारी अंतःप्रेरणा भी हमारी कामना, गुप्त इच्छा और आशा का ही दूसरा रूप हो सकती है। अतः हमको पता लगाना है कि हमने बाह्यरूप से अपने बारे में जो प्रतिमा, या प्रतीक निर्मित कर रखा है, उसे कैसे देखें और साथ ही साथ अपने भीतर गहराईपूर्वक कैसे देखें।

हमको न केवल बाह्य चीजों के प्रति सजग होना चाहिए, बल्कि जीवन की आंतरिक गति के प्रति भी—अर्थात् भय, दुख, चिंता, प्रयोजन, इच्छा आदि की आंतरिक गति के प्रति भी। चुनाव रहित ढंग के सजग होने का अर्थ है—किसी व्यक्ति के कपड़ों के रंग के प्रति सजग होना, बिना यह भाव मन में लाए हुए कि यह रंग मुझे पसंद है, या यह रंग मुझे पंसद नहीं, बल्कि सिर्फ अवलोकन

करना। जब हम इस ढंग से देखेंगे तो हम पाएंगे कि वहां 'द्रष्टा' नहीं होता। द्रष्टा का अर्थ है—एक नियंत्रक और निर्णायक सत्ता। द्दष्टा यानी एक भारतीय, एक अमेरिकन, एक हिंदू, एक ईसाई। द्रष्टा एक लंबे प्रचार का परिणाम है। द्रष्टा स्वयं अतीत है। और जब अतीत देखता है, तो यह अनिवार्यतः अलगाव पैदा करता है—यह निंदा या समर्थन करता है। जो व्यक्ति भूख से छटपटा रहा है, क्या वह कहता है—'यदि मैं इसे करूं तो क्या मैं उसे पाऊंगा?'—नहीं, वह तो अपनी पीड़ा और छटपटाहट से तत्क्षण मुक्त होना चाहता है, वह अपना पेट भरना चाहता है; वह सिद्धांतों की बात नहीं करता। अतः सर्वप्रथम हम 'यदि' के विचार से स्वयं को मुक्त कर लें। भविष्य में न जिएं; भविष्य वही है, जिसे हम 'अभी' यानी वर्तमान में निर्मित कर रहे हैं। और, हमारा वर्तमान भी वस्तुतः अतीत ही है। इसलिए जब हम कहते हैं कि मैं 'अभी' जी रहा हूं, तो वस्तुतः हम अतीत में ही जी रहे हैं, क्योंकि अतीत ही हमको आकार और दिशा-निर्देश दे रहा है। अतीत की स्मृतियां ही हमको इस तरह से, या उस तरह से कार्य करने के लिए बाध्य कर रही हैं।

अतः 'जीने' का अर्थ है—समय से मुक्त हो जाना; और जब हम कहते हैं, 'यदि',—तो हम समय को बीच में ला रहे हैं और समय ही सबसे बड़ा दुख है।

प्रश्न हो सकता है कि हम एक-दूसरे के प्रति 'स्वयं' कैसे हो सकते हैं? 'स्वयं होना'—क्या यह पूछा जा सकता है कि हमारा 'स्वयं' क्या है? जब हम 'दूसरे के प्रति स्वयं' की बात करते हैं, तो हमारा यह 'स्वयं' क्या है? हमारा क्रोध, हमारी कटुता, हमारी कुंठाएं, हमारी निराशाएं, हमारी आशाएं, हमारी हिंसा, हममें प्रेम का नितांत अभाव—क्या यही सब वह है जो हम हैं? ऐसा नहीं सोचें कि मैं दूसरे के साथ 'स्वयं' कैसे हो सकता हूं? हम स्वयं को जानते ही नहीं हैं। हम यही सब हैं और दूसरा भी वही सब-कुछ है—उसका दुख, उसकी समस्याएं, उसकी मनोदशाएं, उसकी कुंठाएं, उसकी महत्त्वाकांक्षाएं—और हर व्यक्ति इन्हीं चीजों से निर्मित एक अलगाव और पृथकता में जीता है।

जब ये बाधाएं और परस्पर प्रतिरोध समाप्त हो जाते हैं तभी हम दूसरे के साथ आनंदपूर्वक जी सकते हैं। ❖

घर-परिवार और मित्र-परिजनों के यहां खुशी के अवसरों पर 'जैन भारती' उपहार के रूप में एक वर्ष, तीन वर्ष या दस वर्ष तक भिजवाकर आप आध्यात्मिक-नैतिक मूल्यों के विकास में योगदान दे सकते हैं। जन्म-दिन का उपहार हो या कोई अन्य अवसर, 'जैन भारती' अनुपम उपहार के रूप में भेंट के लिए हमें लिखें। आपकी ओर से हम यह कार्य करेंगे।

जैन भारती एक संपूर्ण पत्रिका है।
वैचारिक उन्मेष और परिष्कृत रंजन के लिए
जैन भारती पढ़ें—सबको पढ़ाएं।

व्यवस्थापक
जैन भारती
जैन श्वेताम्बर तेरापंथी महासभा
तेरापंथ भवन, महावीर चौक
गंगाशहर, बीकानेर 334401

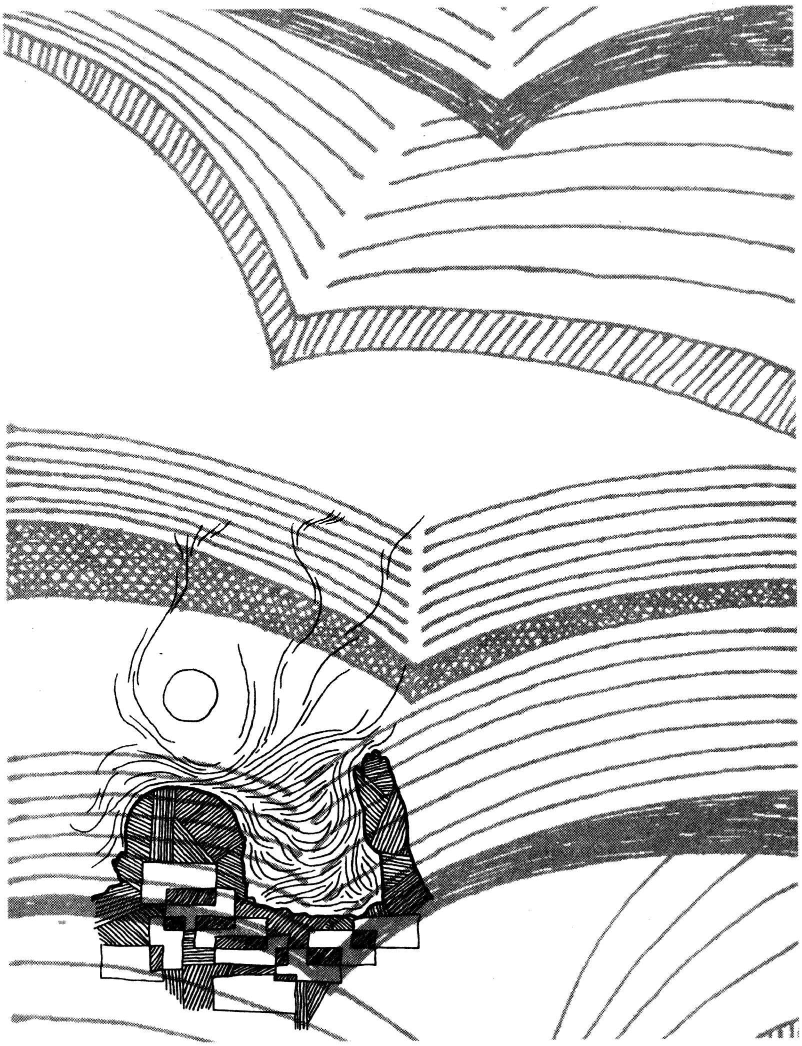

अनुभूति

'मैंने सत्य को पा लिया', ऐसा मत कहो, बल्कि कहो, 'मैंने एक सत्य पाया है।'

'मैंने आत्मा का मार्ग पा लिया', ऐसा मत कहो, बल्कि कहो, 'मैंने अपने मार्ग पर चलते हुए आत्मा के दर्शन किए हैं।'

क्योंकि आत्मा सभी रास्तों पर चलती है। आत्मा एक ही लीक पर नहीं चलती, न वह नरकुल की तरह उगती है;

आत्मा असंख्य पंखुड़ियों वाले कमल के सदृश अपने-आप को विकसित करती है।

—**खलील जिब्रान**

पावन स्मरण तीर्थंकर ऋषभ का

□□ आचार्यश्री तुलसी □□

प्रत्येक पर्व अपने पीछे एक इतिहास रखता है। यह कैसे चला, इस बारे में लोगों के अलग-अलग मत हैं। जैन-मत के अनुसार इस दिन आदि तीर्थंकर श्रीऋषभदेव भगवान या सीधे-सादे शब्दों में बाबा आदिम ने इक्षुरस से पारणा किया था। उसी की स्मृति में इसे इक्षुतीज की संज्ञा मिली। इसे अक्षय तृतीया भी कहते हैं। अन्य पर्वों की तरह इसका भी अपना महत्त्व है।

आदिम बाबा कौन थे, उन्होंने कैसे पारणा किया, उन्होंने अपने जीवन में क्या-क्या काम किए, यह सब बताने से पूर्व उस समय से पहले की दुनिया का एक चित्र सामने रखना ठीक रहेगा।

यौगलिक युग

वह ऐसा समय था, जब संसार में शांति थी। चिंता और व्यथा का कहीं नाम नहीं था। लोग आराम से रहते थे। चोरी और डकैती से उनका परिचय नहीं था। क्यों ? यह इसलिए कि कोई भूखा नहीं था। किसी को कुछ कमाना नहीं पड़ता था। जिसकी जैसी इच्छा होती, उसे वैसा मिल जाता था। कल्पतरु थे, जो इच्छा पूरी कर देते। संग्रह की होड़ नहीं थी। हो भी क्यों, सबको आवश्यकता के अनुसार मिल जाता था। परिवार भी छोटा होता था। पूरे जीवन में केवल एक जोड़ा पैदा होता था। प्रारंभ में वह भाई-बहिन के रूप में रहता और आगे चल कर वही दंपती में परिणत हो जाता। उसे यौगलिक युग कहते हैं उस समय के मनुष्य यौगलिक कहलाते थे।

अक्षय तृतीया
27 अप्रैल, 2009
विशेष।

धीरे-धीरे समय बीतता गया। युगलियों के पुण्य कम होते गए। बिना पुन्यवानी के कुछ मिलता नहीं। सोना भी मिट्टी हो जाता है। कल्पतरु भी तब तक युगलियों की इच्छापूर्ति करते रहे, जब तक उनकी पुन्यवानी थी। उनकी पुन्यवानी घटने लगी तो वे भी हाथ खींचने लगे।

ऋषभदेव ने साधु बनते ही मौन धारण कर लिया। उन चार हजार शिष्यों के लिए मुश्किल हो गई। क्योंकि ऋषभ न बोलते, न कोई निर्देश देते और न कोई व्यवस्था करते। इस तरह मौनावस्था में दिन बीतने लगे। ऋषभ गोचरी जाते, पर उद्देश्य फलित नहीं होता, क्योंकि लोगों को आहार देना आता ही नहीं था। वे आहार के लिए पूछते भी नहीं थे। विशेष बात यह भी कि उन्होंने किसी को भिक्षा दी भी नहीं थी। कहा जाता है कि ऋषभ के जिस निर्देश से बारह घंटे तक बैलों को भूखा रहना पड़ा, वही बारह घंटे की अंतराय बारह महीनों में बदल गई। इस बात में सचाई कितनी है— कहना कठिन है। पर यह बात किवदंती के रूप में चली आ रही है। शिष्य इस स्थिति से परिचित नहीं थे। इसीलिए अधिकतर शिष्य चलते बने।

लोग भूखों मरने लगे। अब भोजन कैसे मिलेगा—यह उन्हें पता नहीं था। खेती करना और रोटी पकाना वे जानते ही नहीं थे। लोग चोरी भी करने लगे थे। ऐसी स्थिति में व्यवस्था का भार कुलकरों को दिया गया। इस तरह के सात कुलकर हुए। उन्होंने हाकार, माकार और धिक्कार की नीतियां अपनाईं। चोरी करने वाले को वे 'हा!' कहते, इससे चोर समझते कि चोरी करने से तो मरना अच्छा है। जब लोग यह नीति लांघ गए, तब दूसरी नीति 'मा'—मत करो, लागू हुई। पर, कालांतर में लोग इसे भी लांघ गए। तब 'धिक्कार' की नीति अपनाई गई। कुछ समय पश्चात् लोग इसे भी लांघ गए। इस तरह कुलकरों की नीतियां भी काम न कर सकीं। अंतिम कुलकर नाभि हुए। उन्होंने सोचा—इस तरह यह काम चलने का नहीं। वे शिकायत करने वालों को अपने पुत्र ऋषभदेव के पास भेज देते। वे उन्हें बड़ी सरलता से निबटा देते। लोगों पर उनका अच्छा प्रभाव पड़ने लगा। वे उनके कहे अनुसार चलने लगे।

ऐसे बंधा अंतराय कर्म

एक दिन लोगों ने आकर कहा—'बाबा! भूखे मर रहे हैं।' ऋषभदेव ने खेती की विधि बताई। 'खळा' करने की विधि बताते हुए कहा—'बीच में एक लक्कड़ रोप दो। चारों और सिट्टे रहेंगे। ऊपर बैल चलेंगे। इस प्रकार अन्न निकल जाएगा।' लोगों ने ऐसा ही किया। पर खळा निकालते समय बैल अन्न खाने लगे। लोगों ने आकर सारी बात ऋषभ से कही। ऋषभ ने बैल के मुंह पर छींकी लगा देने की बात कही। बैलों के छींकियां लगा दी गईं। लोगों की समस्या हल हो गई। वे खलिहान से अन्न निकाल कर उसे घर ले आए। उन्होंने बैलों के सामने भी चारा-पानी रखा, पर मुंह की छींकियां नहीं खोली गईं। उन्हें क्या पता था कि इन्हें खोले बिना ये कुछ खाएंगे नहीं। तब फिर वे भागे-भागे बाबा के पास आए और बोले—'बाबा! बैल चारा नहीं खाते।' ऋषभ ने पूछा—'उनकी छींकियां खोलीं या नहीं?' लोगों ने कहा—'नहीं।' बाबा ने कहा—'मुंह बांध कर रखने से वे चारा-पानी कैसे ले सकेंगे? जाओ, छींकियां खोलो।' लोगों ने अब छींकियां खोल दीं। बैलों ने बारह घंटे बाद कुछ खाया-पिया। इसी अंतराय के भागी आदिम बाबा बने।

काम का विभाजन

बाबा ने कार्य को तीन भागों में बांटा—असि, मसि और कृषि। कृषि—खेती, मसि—व्यापार, असि—सुरक्षा। उन्होंने इस प्रकार सारी सामाजिक व्यवस्थाएं कर दीं। सांसारिक काम लोगों को सिखाए गए। लोग उनकी प्रत्येक समझ और शिक्षा को याद करते। फिर उन्हें सम्मान की दृष्टि से देखने लगे।

अध्यात्म के पथ पर

एक समय आया कि ऋषभदेव ने सोचा कि—मैंने सांसारिक कार्य तो बहुत कर दिए हैं, अब अध्यात्म-साधना करनी चाहिए। उन्होंने राज-काज भरत आदि पुत्रों को सौंपा, जमीन-जायदाद बांटी। पर ननिहाल चले जाने के कारण दो पालित पुत्रों को वे कुछ भी न दे सके।

राज्य की सारी व्यवस्था करने के बाद वे साधु बनने को तैयार हुए। लोगों पर उनका प्रभाव था। उन्होंने सोचा—जैसा ये करेंगे, वैसा ही हम करेंगे। इसी में हमारा हित है। जब वे साधु बने तो चार हजार राजा और राजकुमार भी अपना-अपना राज्य-वैभव छोड़ कर साधु बन गए। ऋषभदेव ने साधु बनते ही मौन धारण कर लिया। उन चार हजार शिष्यों के लिए मुश्किल हो गई। क्योंकि ऋषभ न बोलते, न कोई निर्देश देते और न कोई व्यवस्था करते। इस तरह मौनावस्था में दिन बीतने लगे। ऋषभ गोचरी जाते, पर उद्देश्य फलित नहीं होता, क्योंकि लोगों को आहार देना आता ही नहीं था। वे आहार के लिए पूछते भी नहीं थे। विशेष बात यह भी कि उन्होंने किसी को भिक्षा दी भी नहीं थी। कहा जाता है कि ऋषभ के जिस निर्देश से बारह घंटे तक बैलों को भूखा रहना पड़ा, वही बारह घंटे की अंतराय बारह महीनों में बदल गई। इस बात में सचाई कितनी है—कहना कठिन है। पर यह बात किवदंती के रूप में चली आ रही है। शिष्य इस स्थिति से परिचित नहीं थे। इसीलिए अधिकतर शिष्य चलते बने।

इसी अवधि में भगवान के वे दो पुत्र, जिन्हें ननिहाल में होने के कारण राज्य नहीं दिया जा सका था, अपने भाई भरत के पास आए और अपने हिस्से के राज्य के लिए कहने लगे। उन्होंने बताया–'पिताजी तो दीक्षा ले चुके हैं। मैं तुम्हें राज्य का एक हिस्सा देता हूं।' भाइयों ने कहा—'आपसे नहीं लेना है। राज्य तो पिताजी से ही लेंगे।' भरतजी ने समझाया—'वे साधु बन गए हैं, अब वे राज्य नहीं दे सकते।' उन्होंने कहा—'इससे क्या?' वे भगवान के पास

आए और उन्होंने राज्य मांगा। पर, भगवान ऋषभ ने ध्यान तक नहीं दिया। इसके बावजूद, वे भगवान के साथ रहते और सुबह-सुबह राज्य मांगते। इंद्र ने यह सब देखा। उसने प्रच्छन्न रूप में घोषणा की—'जाओ, मैं तुम्हें वैताढ्य का राज्य देता हूं।' वे चले गए और वहीं राज्य करने लगे। राज्य भगवान ने नहीं, इंद्र ने दिया, पर नाम उनका हुआ।

ऐसे हुआ पारणा

भगवान गांव-नगर जाते, घर-घर घूमते। पर बोलते नहीं, मौन रहते, आहार नहीं मांगते। बिना मांगे कोई देना जानता नहीं। वे जिस-किसी के घर जाते, लोग उनका स्वागत करते। कोई सवारी के लिए हाथी, घोड़ा, रथ, पालकी, बैलगाड़ी आदि लाता, तो कोई हीरा, माणक, मोती, सोनैया आदि लाता। पर, भगवान इन सब पर ध्यान तक नहीं देते। इस तरह दिन बीतते गए और बारह महीने की अवधि समाप्त हो गई। आखिर एक दिन ऋषभ हस्तिनापुर पधारे। वहां उनका संसारपक्षीय पुत्र सोमप्रभ राज्य करता था। उसके पुत्र का नाम था–श्रेयांसकुमार। उसे रात में स्वप्न आया कि मैंने मेरु को अमृत से सींचा है। पुराने जमाने में लोगों को स्वप्न बहुत कम आते थे और जो आते—वे प्रायः मिल जाते। सुबह उसने भगवान ऋषभ को राजमहल की ओर आते देखा। वह सोचने लगा कि ये कौन आ रहे हैं। सोचते-सोचते उसे जातिस्मरण ज्ञान हो गया। ज्ञान के आलोक में उसने अपना पिछला 'भव' देखा। ऋषभ के साथ रहे मैत्री-संबंधों को जाना और साधुचर्या का बोध भी प्राप्त किया। उसने यह भी जान लिया कि भगवान ऋषभ भोजन के लिए घूम रहे हैं। वह प्रसन्नता से भर गया। उसने ऋषभ से राजप्रासाद में पधारने का अनुरोध किया। ऋषभ आए। वहां भोजन तैयार नहीं था। श्रेयांसकुमार भिक्षा के लिए उपयुक्त पदार्थ खोजने लगा। पास में इक्षुरस के घड़े पड़े थे। उसने कहा—'महाराज ! इक्षुरस है।'—भगवान ने अंजलि होठों के लगा दी और इक्षु रस से बारह महीने की तपस्या का पारणा किया और वहां से प्रस्थान कर वे ग्राम-नगर विहार करने लगे।

परम की प्राप्ति

भगवान की माता मरुदेवा जीवित थी। उसने भरत को बुला कर कहा—'भरत ! कहां है तेरा पिता, क्या कभी तूने खबर की ? तू करे भी क्यों, राजगद्दी पर जो बैठा रहता है ! तू समझता ही नहीं। तुझे क्या लेना है, अब पिता से ! पता नहीं, उसे कैसे भोजन मिलता होगा।'

भरत ने कहा—'दादीजी ! गलती हुई। आप मेरी नादानी पर ध्यान न दें। मैं अभी देखता हूं। वे नीचे आए। उन्हें तीन बधाइयां मिलीं—पौत्र-प्राप्ति, आयुधशाला में चक्ररत्न की उत्पत्ति और भगवान को केवलज्ञान की प्राप्ति।

उन्होंने मरुदेवा को सारी बातें कहीं। सबसे पहले केवलज्ञान-प्राप्ति का महोत्सव मनाया। सारा परिवार दर्शनार्थ आया।

भगवान समवसरण के बीच विराजे थे। समवसरण खचाखच भरा था। बैठने की जगह ही नहीं थी। मरुदेवा हाथी के हौदे पर बैठी रही। उसके मन में विचारों का ज्वार आया—वाह रे ऋषभ, तू मुझे भूल ही गया। कितने अरसे बाद आज तेरा मुंह देखा है और तू आंख भी उठा कर नहीं देखता! इतना निर्मोह हो गया! कुछ तो मां का भी उपकार होता होगा। तू उसे भी भूल गया!

कुछ देर बाद चिंतन की धारा मुड़ी—अरे ! मैं गलती कर रही हूं। यह तो साधु है, निर्मोह है। इसके लिए अब संसार की सभी महिलाएं माता और बहिनों के समान ही हैं। इसके सामने न कोई ऊंचा है, न नीचा है। इसका किसी के प्रति न राग है, न द्वेष। मैं भी उस दिन धन्य बनूंगी, जिस दिन वीतराग होऊंगी। उसके विचार विशुद्ध होते गए और इतने विशुद्ध हुए कि जन्म-जन्म के बंधे कर्म कच्चे धागों की तरह टूट गए। मां को केवलज्ञान की उपलब्धि हुई। इसके तत्काल बाद उसके भवोपग्राही कर्म टूटे, उसका शरीर से संबंध छूटा और वह मुक्त हो गई।

भगवान ने प्रवचन के बीच में कहा—'माता मरुदेवा सिद्धा।' भरतजी ने सुना। उन्हें आश्चर्य हुआ। अभी-अभी तो वे दादीजी को हाथी पर बैठे छोड़ कर गए थे। वे तत्काल लौटे। देखा तो वहां मरुदेवा का मृत शरीर पड़ा था। भगवान ऋषभ भी इसी तरह साधना के द्वारा कर्मों का क्षय कर परमात्मपद को प्राप्त हो गए।

भगवान ऋषभ आज भी हमारी स्मृति में हैं। अक्षय तृतीया पर आज भी वर्षीतप के 'पारणे' इक्षुरस से ही होते हैं और हम आदि तीर्थंकर भगवान ऋषभ का पावन स्मरण करते हैं।

❖

सर्वभूतात्मभूतात्मा कुर्वन्नपि न लिप्यते

□□ समणी डॉ. अमितप्रज्ञा □□

योगयुक्तो विशुद्धात्मा विजितात्मा जितेन्द्रियः।
सर्वभूतात्मभूतात्मा कुर्वन्नपि न लिप्यते।।
गीता 5/7

जो योगयुक्त है, विशुद्ध है, विजितात्मा और जितेंद्रिय है और जो सभी प्राणियों को अपने समान समझता है—वह क्रिया करता हुआ भी लिप्त नहीं होता। आचार्यश्री भिक्षु एक ऐसे ही योगयुक्त साधक थे। बंधनमुक्ति की खोज में निकले भिक्षु कभी क्रिया में लिप्त नहीं होते, क्योंकि वे सत्य के उपासक थे। आचार्यश्री भिक्षु भी ऐसे ही विरल भिक्षु थे। उन्होंने विरोध के सामने कभी झुकना नहीं सीखा, क्योंकि वे लौहपुरुष थे। उन्होंने अध्यात्म और व्यवहार को कभी एक नहीं माना।

आचार्यश्री भिक्षु ने अध्यात्म के क्षेत्र में जिन सचाइयों को प्रकट किया, उन्हें एक, दो या तीन बार नहीं, अनेक बार दुहराया, डंके की चोट दुहराया। परिणाम भी वही आया—साथी छोड़कर चले गए, कई बार निवास-स्थान से निकाल दिए गए, फांसी की स्थिति चाहे न भी आई हो, पर उन्हें समाप्त कर देने के लिए अनेक-अनेक प्रयत्न किए गए, फिर भी वे सत्य पर अडिग रहे।

भिक्षु, मुनि, अणगार, संयति, श्रमण, यति, तपस्वी, संत आदि शब्दों को सार्थक करने वाला ही योगयुक्त साधक बन सकता है। आचार्यश्री भिक्षु मुनि थे—'यो मन्यते स मुनिः'—जो जानता है वह मुनि है। मुनि का भाव मौन है। मौन से तात्पर्य है—ज्ञान अथवा संयम। आचार्यश्री भिक्षु ज्ञानी भी थे, संयमी भी थे। उनके साहित्य की ओर दृष्टिपात करें, तो पाएंगे कि उनकी साहित्य-रचना का प्रमुख विषय शुद्ध-आचार का प्रतिपादन एवं तत्त्वदर्शन का विश्लेषण रहा है। उनकी साधना का मूल सूत्र ही अप्रमाद था। वीतराग की साधना में लीन आचार्यश्री भिक्षु निरंतर जागरूक थे, आत्मदर्शन में तल्लीन थे।—**संपिक्खए अप्पगमप्पएणं**—आगम के इस सूक्त को उन्होंने चरितार्थ किया। उनकी पैनी दृष्टि एवं सूक्ष्मग्राही मेधा ने आगमों का गहन अध्ययन कर नवनीत निकाला। उनकी ज्ञानाराधना का प्रत्येक क्षण नूतन चिंतन लिए सामने आता था। साधुवर्ग की आचार-विचार संबंधी शिथिलता को

आचार्यश्री भिक्षु अभिनिष्क्रमण
3 अप्रैल, 2009
विशेष

देख 'वीर भिक्षु' ने 'वीर की वाणी' को 'वीरता' के ओज में गुरु सम्मुख रखा।—**आतमा रा कारज सारस्यां**—आचार्यश्री भिक्षु के ये शब्द, उनके प्रखर मुनित्व के भाव को उजागर करते हैं। आत्म-बलिदान की भावना को पुष्ट करते हैं।

सही पथ को वही देख सकता है जिसके भीतर ममत्व, मूर्च्छा का भाव नहीं है—**से हु दिट्ठपहे मुणी, जस्स णत्थि ममाइयं**—ममत्व के कारण व्यक्ति सही पथ से भी च्युत हो सकता है और उसका सम्यक् ज्ञान भी मिथ्याज्ञान में परिणत हो सकता है। जिसकी ममत्व की गांठ खुल गई है, वही वास्तव में मुनि है। गुरु का अगाध प्रेम, अपने पराक्रमी सुशिष्य भिक्षु पर था। भिक्षु को भी अपने गुरु पर नाज था। पर, जब अपने क्रांतिपूर्ण विचारों को गुरु के सामने रखा और कोई संतोषजनक परिणाम नहीं देखा, तब वे गुरु से भी संबंध-विच्छेद करने में नहीं चूके। प्रथम प्रवास श्मशान की छतरियों में किया। क्रांति का सिंहनाद कर प्रखर मुनित्व का परिचय दिया। निर्मोही मुनि भिक्षु की क्रांति के सामने संप्रदाय का मोह, गुरु का मोह भी बाधक न बन सका।

आचार्यश्री भिक्षु वीर थे। समता की उपासना करने वाला ही वीर होता है। धर्मक्रांति के साथ ही भिक्षु पर विरोधों के पहाड़ टूट पड़े। यहां तक कि जीवन की न्यूनतम आवश्यकताएं—रोटी, कपड़ा और आवास के लिए भी उन्हें संघर्ष झेलने पड़े। अन्न-पानी नहीं मिलने पर भी खिन्न नहीं हुए। कम मिलने पर भी वही प्रसन्नता और दान देने से प्रतिषेध किए जाने पर भी समतासिंधु में अवगाहन करते रहना उनका सहज स्वभाव बन गया। मन को विचलित करने में कारणभूत बनती इन परिस्थितियों में भी वे समता-रस का पान करते रहे। जो वीर होता है, वही इस प्रकार समत्व का आचरण कर सकता है। मुनि हेमराजजी को अपने कष्टमय जीवन के संस्मरण सुनाते हुए आचार्यश्री भिक्षु कहते हैं—'म्हे उणा नै छोड़्या जद पांच वर्ष तांई तो पूरो आहार न मिल्यो...। आहार-पानी जांच नै उजाड़ में सर्व साध परहा जावता। रूंखड़ां री छांया आहार-पाणी मैलने आतापना लेता। आथण रा पाछा गांव में आवता। इन रीते कष्ट भोगवता, कर्म काटता।' —*भिक्खु दृष्टांत*।

पांच-पांच वर्षों तक विपत्तियों के पहाड़ टूटने पर भी वीर भिक्षु के मन में कभी तप, संयम, साधुत्व के नियमों के प्रति अरति के भाव पैदा नहीं हुए और असंयम में रति नहीं हुई। वही साधक वीर होता है जो अरति-रति, दोनों में मध्यस्थ रहता है—आसक्त नहीं होता।

उपाध्याय यशोविजयजी ने 'अध्यात्मसार' ग्रंथ में इसका मार्मिक विवेचन किया है कि वासीचंदनतुलना की स्थिति कब घटित होती है—

समता परिपाके स्यात् विषयग्रहशून्यता।
यया विशदयोगानां वासीचन्दनतुल्यता।।

आचार्यश्री भिक्षु के सामने कई ऐसे प्रसंग आए जब व्यक्ति अपना आपा खो सकता है, पर वे विचलित नहीं हुए। पात्र में आया हुआ आहार भी ले लिया—'घी सहित घाट लइने ठाली कर दियो ठाम।'—'एस वीरे पसंसिए, जे ण णिविज्जति आदाणाए'—वही वीर प्रशंसित होता है जो अदान से खिन्न नहीं होता। आचार्यश्री भिक्षु ऐसे ही प्रशंसनीय वीर थे।

आचार्यश्री भिक्षु अनगार थे। जिसका अपना कोई घर नहीं होता, वही अनगार कहलाता है। हाथी का भार गधों पर लादा जा रहा था और गधे भी थक कर नीचे बैठने की तैयारी में थे—ऐसे शिथिलाचार के समय उन्होंने ऊंचे स्वर में उद्घोषणा की—साधु के निमित्त बनाए हुए स्थानक में साधु को रहना नहीं कलपता।

साधां रै काजे थानक करावै, छ काय रो कर घमसाण।
तिण थानक मांहें रहिया लागा, त्यां भांगी छै श्री जिन आण।।
बांध्या थानक पकर्‌या ठिकाणा रे, गृहस्थ सूं मोह बंधाणा।
सुखसीलिया साताकारी रे, डूबा साधु नो भेष धारी।।

— *आचार री चौपई 25/1/419*

अनगार आत्मा को केंद्र में रखता है, सब पदार्थ उसकी परिधि में रहते हैं। वह पश्यक-द्रष्टा होता है, आत्म और परमतत्त्व को ही देखता है। इसलिए वह परिग्रह बुद्धि से, समत्व बुद्धि से किसी भी पदार्थ का भोग नहीं करता। पदार्थ के उपभोग में आचार्यश्री भिक्षु का उद्देश्य, भावना, विधि सदा अनगार वृत्ति से जुड़ा रहा। देहासक्ति से ऊपर उठ कर ज्ञान-दर्शन-चारित्र की समन्वित आराधना में वे सदा संलग्न रहे। गुरु की यह भविष्यवाणी—'अवश्य ही वह भावितात्मा अनगार होगा'—सत्य निकली।

वे श्रमण थे—'श्रमण' का प्राकृत भाषा में 'समण' रूप

बनता है। संस्कृत में 'समण' शब्द के शमन, श्रमण, समनस्, समण—पर्यायांतर शब्द हो सकते हैं। इनके व्युत्पत्तिलभ्य अर्थ भी भिन्न-भिन्न हैं। शमन—**शमु उपशमे शाम्यति क्रोधादिकषायानिति शमनः**—जो क्रोधादि कषायों का उपशम करता है, वह शमन है। शमन भिक्षु के अभिनिष्क्रमण के साथ ही गुरु ने कड़ी चेतावनी दी—'अच्छा, तो अब तू भी देखना! आगे तू है, और पीछे मैं। तेरे पीछे इतने लोगों को लगा दूंगा कि याद करता रहेगा—पग-पग पर लोग लगास्यूं थारै लार हो।—अभिशापमयी इस गुरुवाणी को आशीर्वाद के रूप में वही ले सकता है जिसके कषाय शांत होते हैं। आचार्यश्री भिक्षु का प्रत्याख्यानावरण कषाय प्रशांत था, तभी वे महाव्रतों के शुद्ध पालन की दिशा में आगे बढ़े।

अनिच्छन् कर्मवैषम्यं ब्रहमांशेन शमं जगत्।
आत्माभेदेन यः पश्येदसौ मोक्षंगमी शमी।।

कर्मों की विषमता को न चाहने वाला, संपूर्ण चैतन्य जगत को आत्मवत समझने वाला, क्रोधादि कषायों का क्षय करने वाला शमी मोक्षगामी होता है।

श्रमण श्रमु तपसि खेदे च, श्राम्यतीति श्रमणः।

इंद्रियों और मन को श्रम (अध्यात्म साधना) में लगाए रखने वाला श्रमण है। 38000 पद्य परिमाण रचना, आगमों का गहन अध्ययन—इस बात की साक्षी है कि श्रमण भिक्षु ने अपनी इंद्रिय और मन को निरंतर अध्यात्म साधना में संलग्न रखा।

स्थानांग की वृत्ति में 'समन' का अर्थ पवित्र मन वाला किया गया है—**'सह मनसा शोभनेन निदान--परिणाम-लक्षण-पापरहितेन च चेतसा वर्त्तत इति समनसः।** (स्थानांग टीका, पृ. 268) निर्युक्ति में 'समनस्' का अर्थ राग-द्वेष रहित मन वाला, मध्यस्थवृत्ति वाला किया गया है। एक यूनानी कहावत है—मुझे प्लेटो प्रिय है, सुकरात प्रिय है, पर सत्य सबसे अधिक प्रिय है। आचार्यश्री भिक्षु ने भी इसी सचाई को स्वीकार करते हुए कहा—'मुझे गुरु प्रिय है, परंपराएं, परिवेश प्रिय हैं, पर सबसे अधिक सत्य प्रिय है। सत्य के लिए ही वे मान्यताओं को त्यागने को तत्पर हुए। लेबनान के क्रांतिकारी विचारक खलील जिब्रान ने सत्य के लिए कहा है—'यदि तुम एक बार नग्न सत्य का प्रयोग करोगे तो तुम्हारे सभी साथी तुम्हें छोड़ देंगे, दूसरी बार करोगे तो तुम्हें देश से निष्कासित कर दिया जाएगा और यदि तीसरी बार उसके लिए तुम्हारी जीभ खुली तो फांसी का फंदा तुम्हारे गले में झूल जाएगा। दुनिया से तुम्हारा अस्तित्व समाप्त कर दिया जाएगा। क्योंकि दुनिया के कान कच्चे होते हैं। सफलता प्राप्त करने के लिए व्यक्ति को सत्य की आंच में पकना होता है।' आचार्यश्री भिक्षु ने अध्यात्म के क्षेत्र में जिन सचाइयों को प्रकट किया, उन्हें एक, दो या तीन बार नहीं, अनेक बार दुहराया, डंके की चोट दुहराया। परिणाम भी वही आया—साथी छोड़कर चले गए, कई बार निवास-स्थान से निकाल दिए गए, फांसी की स्थिति चाहे न भी आई हो, पर उन्हें समाप्त कर देने के लिए अनेक-अनेक प्रयत्न किए गए, फिर भी वे सत्य पर अडिग रहे।

इसी तरह सब जीवों को आत्मतुला की दृष्टि से देखने वाला समता सेवी ही 'समण' कहलाता है। अहिंसा का गूढ़ एवं सूक्ष्म चिंतन भिक्षु ने दिया—**अत्तसमे मन्नेज्ज छप्पिकाए**—महावीर की यह वाणी उनके सामने रही। इसीलिए उन्होंने एकेंद्रिय से लेकर पंचेंद्रिय तक के जीवों के प्रति अहिंसक वृत्ति को प्रोत्साहन दिया। आवश्यक हिंसा को हिंसा न मानने वाले एवं बड़े जीवों के सुख के लिए छोटे जीवों की हिंसा में धर्म मानने वाले को उन्होंने डंके की चोट कहा—

और वसत मे भेल हुव पिण,
दया में नहीं हिंसा रो भेलो।
ज्यूं पूरव ने पछिम रो मारग,
किण विध खाये भेलो।।

— *अनुकम्पा की चौपई*

अध्यात्म योगी आचार्यश्री भिक्षु ने अपने शिष्यों को अंतिम शिक्षा भी यही दी—'स्थिरचित्त होकर भगवान के मार्ग का अनुसरण करना। दुर्बुद्धि और दुराग्रह को छोड़कर आत्मा की उज्ज्वलता हो, वैसा कार्य करते रहना। शुद्धाचार की आराधना में कभी स्वल्पमात्र भी मत चूकना। समिति, गुप्ति, महाव्रतों का सावधानीपूर्वक पालन करना। शिष्य-शिष्याओं पर तथा वस्त्र, पात्र आदि उपकरणों पर किसी प्रकार का ममत्व मत रखना। पुद्गल आसक्तियों में मत फंसना। संयम में शुद्ध मन से अनुरक्त रहना।' (भिक्षु जसरसायण 56/1 से 13)

अध्यात्म योगी भिक्षु ऐसे ही योगयुक्त, विशुद्ध विजितात्मा, जितेंद्रिय थे। ❖

हृदय : सर्वधर्म समभाव को समझने का सच्चा मार्ग

□□ कि. घ. मश्रुवाला □□

धर्म का अर्थ वह वस्तु या वह जीवन-व्यवस्था है, जो मानव-समाज को एक विशाल कुटुंब में एकत्रित कर देती है। उसमें विशालता की भावना पैदा करती है—यही धर्म का लक्षण है। संकुचितता पैदा करें और समाज की ऐसी रचना करें जिससे मनुष्य-मनुष्य में भेद पैदा हो, मनुष्य का व्यक्तित्व भी वैसा ही बन जाए—वह धर्म नहीं, बल्कि धर्म का आभास मात्र है। मेरे विचार से हिंदुस्तान में हमने धर्म के बारे में खूब विचार किया है। तत्त्वज्ञान में भी हम खूब गहरे उतरे हैं, फिर भी इन सबके कारण हम व्यक्तिवादी बन गए हैं। हमारी हर एक प्रवृत्ति का ध्येय—फिर वह आध्यात्मिक प्रवृत्ति हो या आर्थिक—व्यक्तिगत लाभ हो गया है। 'आत्मार्थे-पृथ्वीं त्यजेत्'—में भी हम स्वार्थ से ही प्रेरित होते हैं। इस प्रकार धर्म का ध्येय व्यक्तिगत हो जाने से धर्म संकुचित हो गया।

सर्व-धर्म-समभाव की दृष्टि से धार्मिक शिक्षा की क्या प्रणाली होनी चाहिए? इस मामले में हमारे विचार पूरी तरह स्पष्ट नहीं हैं। कहा जाता है कि सब धर्म समान हैं, सब सत्य की ओर ले जाने वाले हैं और इसलिए सबके प्रति समान आदर रखो। यह बात बुद्धि और हृदय से समझने में बड़ा अंतर है। दो भाइयों में झगड़ा हो और यदि उसके निपटारे के लिए वे कचहरी में जाएं तो न्यायाधीश अपनी न्यायबुद्धि से जो निर्णय देता है—वह एक-पक्षीय होता है। परंतु, यदि वही झगड़ा वे अपनी मां के पास ले जाएं, तो वह हृदय से जो न्याय प्रदान करेगी—वह दूसरी तरह का होगा। इसी तरह यदि हम बुद्धि से सब धर्मों की समानता का सिद्धांत समझ जाएं तो एक ओर वेद या गीता, दूसरी ओर बाइबिल और तीसरी ओर कुरान को रखते हैं और सब शास्त्रों को समझने बैठ जाते हैं तथा प्रत्येक का पृथक्करण करने लग जाते हैं। एक ओर हम कृष्ण, बुद्ध, महावीर, ईसा, मुहम्मद आदि की एक-दूसरे के साथ तुलना करने लग जाते हैं और फिर आश्चर्य प्रकट करते हैं कि इन सबको पूरी तरह कैसे समझा जा सकता है। अथवा, कोई बुद्धिशाली मनुष्य यह भी कह सकता है, हां ठीक है, क्योंकि इनमें से किसी में भी सार नहीं है, अथवा समभाव साधने वाला मनुष्य एक दिन कृष्ण का भजन, दूसरे दिन पैगंबर मुहम्मद का और तीसरे दिन ईसा का गुणगान करेगा। इस प्रकार प्रत्येक को प्रसन्न रखने का प्रयत्न करेगा। इससे भले ही सर्वधर्म-समानता सधती हो, परंतु ऐसा करने से भक्ति का फल नहीं मिलता।

सर्वधर्म समानता को समझने का सच्चा मार्ग हृदय का है। प्रत्येक धर्म में जो संत या औलिया हो गए हैं, उनकी तरफ देखें तो उनके जीवन की बाहरी तफसीलों को न देखते हुए उनके हृदय की गहराई को देखना चाहिए। ऐसा करने से मालूम पड़ेगा कि उन सबका हक और हुक्म (सत्य और नियम) में समान विश्वास है। सभी के सद्गुणों के विकास में लगभग

समानता है, मानो सब एक ही मां-बाप के बेटे हैं। एक का जन्म हिंदुस्तान में हुआ हो, दूसरे का अरबिस्तान में और तीसरे का यूरोप में तथा चौथे का चीन में हुआ हो—तब भी सब एक-सा अनुभव और वर्णन करते हैं और हृदय के सद्गुणों और भलाई के बारे में एक ही प्रकार के नियम बनाते हैं।

मूर्ति, काबा, क्रॉस, स्तूप अथवा लिंग की पूजा की जाए अथवा एक स्त्री से विवाह किया जाए या चार से, ये बातें तो देश, काल, परिस्थिति के भेद हैं। जो संत जिन लोगों में पैदा हुए, वहां जिन साधनों का उन्हें पता था, उनका उन्होंने ईश्वर प्राप्ति के लिए उपयोग किया। परंतु, ये तो मानवीय नियम हैं। ईश्वरीय नियम इनसे अधिक गहरे हैं और इनके विषय में, सब धर्म और सब औलियों और साधु-संतों का एक ही मत है। सर्वधर्म-समभाव को समझने की यही कुंजी है। इसलिए बालकों को सब धर्मों के शास्त्र पढ़ाने की इतनी जरूरत नहीं; जितनी सब देशों के ईश्वरीय पुरुषों के हृदय की गहराई प्रकट करने वाले जीवनचरित्र पढ़ाने की है। सब विद्यार्थी एक दिन हिंदू पद्धति से उपासना करें, दूसरे दिन इसलामी पद्धति से और तीसरे दिन ईसाई पद्धति से उपासना करें, यह भी जरूरी नहीं है। जो विद्यार्थी जिस धर्म में पला हो, वह उसी धर्म के ढंग पर प्रार्थना करे। सब धर्मों के चिह्नों का शाला में प्रदर्शन होना चाहिए—इसे भी मैं आवश्यक नहीं मानता।

आज न केवल विद्यार्थियों का जीवन छिन्न-भिन्न हो गया है, बल्कि सारे हिंदुस्तान का जीवन छिन्न-भिन्न हो गया है। संसार में अनेक नए अन्वेषण हो रहे हैं। फिर भी अशांति और जुल्म बढ़ते जा रहे हैं। हमारे देश में हमारा समाज और जीवन, जो छिन्न-भिन्न हो गया है, उसका कारण स्पष्ट है और वह है—हमारी पराधीनता। यह पराधीनता इसलिए आई है कि हमने सच्चे धर्म का नाश कर दिया है। सच्चे धर्म के नाश से सामाजिक, राजनीतिक, आर्थिक—सभी तरह से अवनति हो गई है। हमारा जीवन अव्यवस्थित हो गया है। राजनीतिक अवनति से परतंत्रता आई और उसके बाद अनेक अनर्थों की परंपरा चली आई है। इस स्थिति से मुक्त होने के लिए हमें जहां से धर्म का ह्रास आरंभ हुआ है, वहीं पहुंचना होगा अर्थात् धर्म का संशोधन करना होगा। धर्म के संशोधन से हमारे समाज और जीवन का शोधन होगा।

मैं यहां धर्म शब्द का उपयोग 'रिलिजन' के अर्थ में नहीं, बल्कि अधिक विशाल अर्थ में कर रहा हूं। धर्म का अर्थ वह वस्तु या वह जीवन-व्यवस्था है, जो मानव-समाज को एक विशाल कुटुंब में एकत्रित कर देती है। उसमें विशालता की भावना पैदा करती है—यही धर्म का लक्षण है। संकुचितता पैदा करें और समाज की ऐसी रचना करें जिससे मनुष्य-मनुष्य में भेद पैदा हो, मनुष्य का व्यक्तित्व भी वैसा ही बन जाए—वह धर्म नहीं, बल्कि धर्म का आभास मात्र है। मेरे विचार से हिंदुस्तान में हमने धर्म के बारे में खूब विचार किया है। तत्त्वज्ञान में भी हम खूब गहरे उतरे हैं, फिर भी इन सबके कारण हम व्यक्तिवादी बन गए हैं। हमारी हर एक प्रवृत्ति का ध्येय—फिर वह आध्यात्मिक प्रवृत्ति हो या आर्थिक—व्यक्तिगत लाभ हो गया है। 'आत्मार्थे-पृथ्वीं त्यजेत्'—में भी हम स्वार्थ से ही प्रेरित होते हैं। इस प्रकार धर्म का ध्येय व्यक्तिगत हो जाने से धर्म संकुचित हो गया। इससे समभाव की जो धर्म-परंपरा आरंभ हो गई—उसका सीधा परिणाम यह निकला कि समाज और राज्य-व्यवस्था में सच्ची वस्तु का ह्रास होता गया और सड़ांध पैदा हो गई। इस अवनत दशा में से निकल कर पुनः उन्नति करने के लिए व्यक्तिगत नहीं, बल्कि सामूहिक जीवन बिताने की हमें आदत डालनी चाहिए।

प्राचीन संतों ने ईश्वर के बारे में जो शब्द काम में लिया है, वही गांधीजी लेते हैं और वह है, 'सत्' या 'हक'। इसका अर्थ यह है कि सारे जगत के मूल में एक महान सत्य 'हकताला' निहित है। और, जहां से हमारी अहंवृत्ति खुदनुमाई और तरह-तरह के अनुभव उत्पन्न होते हैं, वह हमारा हृदय ही उसे ढूंढ़ने का स्थान है। इस हक का सबसे बड़ा प्रमाण संसार में चल रहा नियम-पालन हुक्म का राज्य है। संसार में दिखाई देने वाली सारी भलाई-बुराई नियम-हुक्म से होती है। भलाई-भलाई के नियम से, बुराई-बुराई के नियम से। भलाई के लिए भलाई के नियम ढूंढ़ने चाहिए, और यही ईश्वर को पाने का रास्ता है। उसमें से अहिंसा, अपरिग्रह, अस्पृश्यता निवारण, सेवा आदि से संबंध रखने वाले गांधीजी के सारे व्रत-विचार मिल जाते हैं।

गांधीजी ने एक बार कहा है कि उनका कोई नया तत्त्वज्ञान नहीं है। उन्होंने जो नई चीज बताई है, वह है दुनियादारी में पैदा होने वाली कठिनाइयां और झगड़े मिटाने में मूल सिद्धांतों का उपयोग करने का व्यावहारिक मार्ग। उनकी मंशा भिन्न-भिन्न महान सनातन धर्मों का वैयक्तिक नहीं, परंतु सामाजिक जीवन में सामूहिक रूप में उपयोग करने की है।

शेष पृष्ठ 52 पर

संबोधन अलंकरण और मिलन समारोह हुए

❑

बीदासर (राजस्थान) में आयोजित 145वें मर्यादा महोत्सव के अवसर पर 30 जनवरी से 02 फरवरी, 2009 को महासभा के महत्त्वपूर्ण त्रिदिवसीय कार्यक्रम आयोजित हुए।

संबोधन अलंकरण समारोह

वसंत पंचमी के पूर्व दिवस पर 30 जनवरी, 2009 को संबोधन अलंकरण समारोह का आयोजन पूज्यप्रवर **आचार्यश्री महाप्रज्ञजी, युवाचार्यश्री महाश्रमणजी** एवं **साध्वीप्रमुखाश्री कनकप्रभाजी** की पावन सन्निधि में हुआ। महासभा अध्यक्ष **श्री जसकरन चौपड़ा** ने इस गरिमापूर्ण आयोजन के दायित्व हेतु पूज्यप्रवर के प्रति कृतज्ञता ज्ञापित करते हुए आगंतुक महानुभावों के स्वागत में अपने विचार व्यक्त किए। मर्यादा महोत्सव व्यवस्था समिति के अध्यक्ष **श्री बाबूलाल सेखानी** ने व्यवस्था समिति की ओर से स्वागत भाषण प्रस्तुत किया। महासभा के राष्ट्रीय संयोजक **श्री भंवरलाल सिंघी** ने आयोजन की पृष्ठभूमि पर प्रकाश डालते हुए संबोधनप्राप्त श्रावक-श्राविकाओं का संक्षिप्त जीवन-परिचय प्रस्तुत किया।

> समाज व धर्मसंघ को जिन्होंने योगदान दिया, सभी लोग उनसे प्रेरणा लें

समारोह को संबोधित करते हुए **युवाचार्यश्री महाश्रमणजी** ने कहा कि—'समाज के द्वारा जो लोग सम्मानित होते हैं, उनका दायित्व बढ़ जाता है। अपेक्षा है संबोधनप्राप्त श्रावक-श्राविकाएं अपनी विशिष्ट सेवाओं से समाज को नई ऊंचाइयां देने में अपनी शक्ति का नियोजन करें।'

उद्‌बोधन प्रदान करते हुए **आचार्यश्री महाप्रज्ञजी** ने कहा कि—'महासभा दाता बनी हुई है, पर दाता धन देने वाला नहीं होता, दाता वह होता है—जो सम्मान देता है। व्यक्ति धनपति बन जाता है, पर समाज के लिए कुछ नहीं करता तो वह समाज के लिए भार होता है। जो व्यक्ति अपने घर की सेवा तक सीमित नहीं रहता और समाज की चिंता करता है, समाज की समस्याओं पर ध्यान देता है—वह सम्माननीय होता है। जिन लोगों को महासभा ने सम्मान दिया है, उन्होंने अपनी सेवा से समाज व धर्मसंघ को योगदान दिया है—उनसे सभी लोग प्रेरणा प्राप्त करें।'

पूज्यप्रवर द्वारा 1 जनवरी, 2008 से 31 जनवरी, 2008 तक आत्मस्थ, शासनसेवी, शासनसेवी परिवार, समाधिनिष्ठ श्राविका, श्रद्धानिष्ठ श्रावक, श्रद्धा की प्रतिमूर्ति, कल्याण मित्र राजनेता एवं कल्याण मित्र संबोधनों से संबोधित किया गया। इन संबोधित 153 महानुभावों अथवा उनके परिवारजनों को अलंकरणसूचक प्रतीक चिह्न प्रदान कर महासभा की ओर से सम्मानित किया गया। प्रतीक चिह्न महासभा अध्यक्ष के साथ निवृत्तमान अध्यक्ष, उपाध्यक्ष, महामंत्री, कोषाध्यक्ष, सहमंत्री एवं तेरापंथ विकास परिषद के संयोजक द्वारा प्रदान किए गए।

उक्त अवसर पर **ज्ञानशाला पुरस्कारों** का समायोजन भी हुआ। महासभा अध्यक्ष **श्री जसकरन चौपड़ा**, पुरस्कार प्रायोजक **श्री विमल कुमार नाहटा** (गुवाहाटी) एवं ज्ञानशाला प्रकोष्ठ के राष्ट्रीय संयोजक **श्री सोहनराज चौपड़ा** द्वारा श्रेष्ठ व उत्तम ज्ञानशाला, श्रेष्ठ प्रशिक्षक, वरिष्ठ प्रशिक्षक, श्रेष्ठ संचालक संस्था, श्रेष्ठ ज्ञानार्थी पुरस्कार एवं ज्ञानशाला प्रशिक्षक प्रशिक्षण परियोजना के तीनों वर्षों में प्रथम, द्वितीय एवं तृतीय स्थान प्राप्तकर्ताओं को प्रमाण पत्र प्रदान कर सम्मानित किया गया। संपूर्ण कार्यक्रम का कुशल संचालन राष्ट्रीय संयोजक **श्री भंवरलाल सिंघी** द्वारा किया गया।

संबोधन अलंकरण समारोह—मिलन गोष्ठी

पूज्यप्रवर द्वारा संबोधनप्राप्त श्रावक-श्राविका एवं

परिवारजनों के सम्मान में दिनांक 30 जनवरी, 2009 को सायंकाल **मिलन गोष्ठी** का आयोजन किया गया। महासभा के अध्यक्ष **श्री जसकरन चौपड़ा** ने संबोधन-प्राप्तकर्ता महानुभावों के प्रति मंगलकामना करते हुए अतिथिवृंद का स्वागत किया। राष्ट्रीय संयोजक **श्री भंवरलाल सिंघी** ने 'ऑडियो विजुअल प्रेजेंटेशन' के माध्यम से संबोधन-प्राप्तकर्ताओं के चित्रों को दिखाते हुए उनका संक्षिप्त परिचय प्रस्तुत किया। महासभा के प्रधान ट्रस्टी **श्री चैनरूप चिंडालिया** द्वारा इन विशिष्ट परिवारों को महासभा की गतिविधियों के साथ संघीय जुड़ाव हेतु आह्वान किया गया।

महासभा द्वारा प्रकाशित संबोधन-प्राप्तकर्ताओं के संक्षिप्त परिचय की पुस्तक **संबोधन-प्राप्तकर्ता 2008 एक परिचय** सभी परिवारों को प्रदान की गई। इस अवसर पर महासभा के आह्वान पर अनेक व्यक्तियों एवं परिवारों ने महासभा की विभिन्न गतिविधियों के संचालन हेतु अनुदान राशि प्रदान करने की घोषणा की, जिन्हें धन्यवाद प्रदान किया गया। महासभा के महामंत्री **श्री बिनोद कुमार चौरड़िया** ने आभार ज्ञापन किया। कार्यक्रम का संचालन राष्ट्रीय संयोजक **श्री भंवरलाल सिंघी** ने कुशलतापूर्वक किया।

श्रेष्ठ एवं विशिष्ट सभा सम्मान समारोह

त्रिदिवसीय मर्यादा महोत्सव के प्रथम दिन दिनांक 31 जनवरी, 2009 (वसंत पंचमी) को बीदासर के विशाल **मर्यादा समवसरण** में पूज्यवरों के पावन सान्निध्य में **श्रेष्ठ एवं विशिष्ट सभा सम्मान समारोह** आयोजित किया गया। राष्ट्रीय संयोजक **श्री भंवरलाल सिंघी** ने श्रेष्ठ एवं विशिष्ट सभा पुरस्कारों के संदर्भ में संक्षिप्त जानकारी प्रदान की। देशभर की तेरापंथी सभाओं से प्राप्त आवेदनों के आधार पर वर्ष 2008 की श्रेष्ठ सभा हेतु संयुक्त रूप से चयनित **श्री जैन श्वेताम्बर तेरापंथी सभा, मुंबई** एवं **बैंगलोर** को महासभा अध्यक्ष **श्री जसकरन चौपड़ा** एवं पुरस्कार प्रायोजक परिवार की ओर से **श्री राजेन्द्र बच्छावत** ने **स्व. झूमरमल बच्छावत प्रेरणा पुरस्कार** के अंतर्गत रु. 1,00,000/- की राशि एवं प्रतीक चिह्न प्रदान कर सम्मानित किया तथा **विशिष्ट सभा** के रूप में चयनित **श्री जैन श्वेताम्बर तेरापंथी सभा, आसींद** को महासभा अध्यक्ष **श्री जसकरन चौपड़ा** द्वारा **स्व. बस्तीमल सारीबाई छाजेड़ प्रेरणा पुरस्कार** के अंतर्गत रु. 31,000/- की राशि एवं प्रतीक चिह्न प्रदान कर सम्मानित किया गया। इस अवसर पर **तेरापंथी सभा मुंबई** एवं **बैंगलोर** द्वारा महासभा की गतिविधियों के विकास हेतु अनुदान राशि प्रदान करने की घोषणा की गई।

महासभा का 95वां वार्षिक साधारण अधिवेशन

महासभा का **95वां वार्षिक साधारण अधिवेशन** दिनांक 01 फरवरी, 2009 को **श्रीसंघ ओसवाल पंचायत भवन, बीदासर** (राजस्थान) में आयोजित हुआ। महासभा अध्यक्ष **श्री जसकरन चौपड़ा** ने अध्यक्षीय अभिभाषण में आगंतुकजनों का स्वागत करते हुए विगत वर्ष की विशेष उपलब्धियों की जानकारी प्रस्तुत की।

महामंत्री **श्री बिनोद कुमार चौरड़िया** द्वारा विगत अधिवेशन की कार्यवाही का वाचन एवं वार्षिक प्रतिवेदन का प्रस्तुतीकरण किया गया, जिसे सर्वसम्मति से स्वीकृत किया गया। कोषाध्यक्ष **श्री नरेन्द्र कुमार श्यामसुखा** ने विगत वर्ष के आय-व्यय का लेखा-जोखा प्रस्तुत किया, जिसे सदन द्वारा पारित किया गया। इस अवसर पर तेरापंथ विकास परिषद के संयोजक **श्री लालचंद सिंघी ने महासभा का संघीय एवं सामाजिक दायित्व** विषय पर अपने विचार प्रस्तुत किए। अनेक सदस्य महानुभावों ने अपने सुझाव एवं विचार प्रस्तुत किए। वार्षिक अधिवेशन का संयोजन महासभा के उपाध्यक्ष **श्री हीरालाल मालू** ने कुशलतापूर्वक किया।

महासभा के त्रिदिवसीय कार्यक्रमों की विभिन्न व्यवस्थाओं में व्यवस्था समिति के उल्लेखनीय सहयोग हेतु मर्यादा महोत्सव व्यवस्था समिति के अध्यक्ष **श्री बाबूलाल सेखानी** एवं उपाध्यक्ष **श्री हनुमानमल सेखानी** को सम्मानसूचक प्रतीक चिह्न प्रदान किया गया। ❖

समाज–जीवन में आजकल कई प्रकार के झगड़े हुआ करते हैं। इसलिए अहिंसक प्रतिकार की आवश्यकता रहेगी। पहले 'सत्याग्रही' नहीं बनें, 'सत्यग्राही' बनें। सामने वाले के पास जो सत्य है, उसे ग्रहण कर लिया, उसके बाद भी काम न हुआ तो फिर सत्याग्रह कर सकते हैं।

—आचार्य विनोबा भावे

कहानी

पगला बाबा

❑❑ गोविन्द मिश्र ❑❑

उस शाम जैसे उन्हें अपना धर्म मिल गया था—जिसका कोई नहीं, उसका सब कोई। संसार-यात्रा का एक छोटा-सा भाग जहां व्यक्ति अशक्त हो जाता है।…मात्र निस्पंद देह…। वहां उसे आगे की तरफ ठेल देना, पंचभूत पंचतत्त्वों को सौंप देना। वे पगला बाबा हो गए। कहां के थे, क्या नाम था, कौन जाति… धर्म… सब 'पगला' में डूब गया।

कुक्कुर के रोने की आवाज आधी रात में… ? ऊं-ऊं-ऊं पर आ कर जैसे किसी कुएं में गिरती है। पुत्तन की गली का कुत्ता है, ठंड में रिरिया रहा है। नहीं, यह ठंड की किंकियाहट नहीं, दूसरी सूंघ है, जो बोल रही है। कैसा आश्चर्य कि जो ज्ञानी-ध्यानी को पता नहीं चल पाता, उसे एक कुक्कुर सूंघ कर जान लेता है।

कौन चला? शिवोऽहं… शिवोऽहं…। पगला बाबा ने करवट ली। बुखार में माथा चटक रहा है। आंखें आधी खुलीं…। बाहर ठिलिया ढिली है, छिद्दू मिठया के घर का अगवाड़ा है—दिन में सज कर मिठाई की दुकान बन जाएगा। जाड़े की कितनी रातें यहां कटी हैं, यहीं भट्टी से सटकर…। अग्नि धीरे-धीरे बुझती हुई…

किसकी बुलाहट आई? आस-पास ही ढेरों पड़े हैं, क्या इनमें से कोई…, शिवोऽहं, शिवोऽहं…।

मृत्यु का वरण करने लोग काशी पहुंचते हैं…। बाबा विश्वनाथ की नगरी। यहां प्राणांत हो, मणिकर्णिका घाट में दाह मिल जाए तो सीधी मुक्ति। आते समय भय कि कहीं मार्ग में ही पंछी न उड़ जाए, पहुंच गए तो दूसरा संकट कि प्राणांत नहीं हो रहा। ऐसी रुग्णावस्था में आए थे कि आज गए, कल गए…। और यहां आकर देखा कि गाड़ी उलटी दिशा में चल पड़ी—चंगे होने लगे। बड़ी फजीहत होती है, ऐसे में—क्या करें? लौटने में बड़ी शर्म आती है… और यह तो सैकड़ों के साथ होता है कि डेरा डाले पड़े हैं, गर्दन उचका-उचका कर गंगाजी की दिशा में हर पल निहारते हुए…, अब बुला लो मैया! जो सगे-संबंधी साथ आए थे, वे भी ऊब कर लौट गए। मृत्यु महारानी की कृपा नहीं हो रही, अंततः सुध ली तो मणिकर्णिका घाट ले जाने वाला कोई नहीं। …अब उठ कर तो जा नहीं सकते और उधर जो हैं—सो काशी, बनारस होता जा रहा है। लोग दौड़ रहे हैं, इस छोर से उस छोर को नापते हुए, अगल-बगल देखने का समय नहीं होता बेचारों के पास।

लेकिन पगला बाबा की बात और है। वे कहीं खड़े हुए और घंटी टनटनाई नहीं कि कोई कुछ कर रहा हो, कह-सुन रहा हो, यहां तक कि झगड़ ही क्यों न रहा हो, थम जाता है। लोगों के सामने उनका एक ही रूप—छड़ी-सा शरीर, गेंदे के मोटे-मोटे फूलों से लदा, कमर से नीचे झूलता लाल रंग का गमछा, नीचे लंगोट, रक्तिम चेहरे पर बिखरी खिचड़ी दाढ़ी, माथे पर भभूत और सिर पर दूल्हेवाला मौर। एक हाथ में घंटी और दूसरे में भिक्षापात्र। 'पगला बाबा…' फुसफुसाहट इधर से उधर दौड़ जाती है। लोग रुपये-पैसे पात्र में डाल प्रणाम करते हैं। पगला बाबा तेज कदमों से आगे बढ़ जाते हैं…। एक दुकान के बाद दूसरी, दूसरी के बाद तीसरी। रुपये पूरे हुए कि पलटे और फड़फड़ कपड़े वाले की दुकान।

घंटी और फिर उंगलियां उठा दीं—एक या दो। कफन का कपड़ा हाथ आते ही पगला बाबा दोगुनी तेज रफ्तार से भागते हैं… सड़क पार, गलियों-नालियों को नाकते-फांदते वहां, जहां उनकी ठिलिया पड़ी होती है… पास में कोई शव। ठिलिया पर शव को लिटाया, कफन ओढ़ाया, अपना एक गजरा तोड़कर फूल बिखेर दिए और ठिलिया ढिनगाते चले मणिकर्णिका घाट। बीच में सिर्फ एक ही पड़ाव—थाने में कागज बनवाने के लिए। वहां भी घंटी बजी कि सिपाही दौड़ा चला आता है, खुद ही जाकर डॉक्टर से पर्ची कटा लाता है। तब तक पगला बाबा दीगर सामान खरीद लेते हैं। मणिकर्णिका घाट पहुंच कर शव को गंगा-स्नान कराते हैं और फिर पूरे सम्मान और विधि-विधान से दाह। पश्चात् ठिलिया ढिनगाते हुए वापस बस्ती में, आंखें खोजती हुईं—कहां कौन मृत, उपेक्षित पड़ा हुआ है…।

चक्कर… चक्कर… बस्ती से घाट, घाट से बस्ती…। सहसा पगला बाबा को ध्यान आया कि साल से ऊपर हो गया, वे मंदिर नहीं गए। लोग कितनी दूर-दूर से दर्शन को आते हैं और वे हैं कि… जी कलप उठा… कौन अपराध हुआ प्रभु कि बिसार दिया ! कल उठ कर पहले मंदिर ही जाएंगे। सवेरे से ही चकरी चिकिर-चिकिर करने लगती है… भाग… भाग… उजियारे जितने पार लग जाएं। जाने किस-किस कोने से पुकार उठती है—एक के बाद दूसरी, दूसरी के बाद तीसरी… कि सब-कुछ बिसर जाता है, रात उतरते-उतरते दम ही नहीं बचता। कैसा काम दिया प्रभु… !

गांव के दादा भैया अपना मरग संवारने काशी आ रहे थे। ये भी पीछे लग गए। गांव में आगे नाथ, न पीछे पगहा वाला हिसाब था, तो चलो बाबा विश्वनाथ के दरबार ही। दादा भैया बड़े आदमी थे, अपने अंत की प्रतीक्षा के लिए एक धर्मशाला में टिके । ये चाहते तो उनकी सेवा में बने रहते, पर मन में आया कि बाबा की नगरी आए हैं, तो केवल विश्वनाथ बाबा की चाकरी ही करेंगे, सो बस… विश्वनाथ गली, ढुंढिराज गली, मंदिर में सिद्धिविनायक, कालीजी; अन्नपूर्णाजी और मंदिर का मुख्य दरवाजा…, यहीं डोलते रहते इधर से उधर। प्रत्यूष वेला में उठकर डेढ़सी पुल होते हुए दशाश्वमेध घाट… गंगा-स्नान और पट खुलने के पहले-पहले ही बाबा की सभा में उपस्थित। वह समय भी खूब था कि रोज कोई-न-कोई धर्मात्मा पूड़ी-कचौड़ी झोली में डाल जाता या चार-छह को ले जाकर कचौड़ी गली में आराम से खिला देता था।

एकाएक सब बड़ा आलतू-फालतू लगने लगा। उनके जीवन में कुछ भी ऐसा नहीं जो कहीं जोड़े। जिसके न मां-बाप, न जमीन-जायदाद और न काम-धाम ही…, उसके लिए जोड़-जुड़ाव का सिलसिला आगे भी क्या बनेगा? क्या पेट भर लेना ही अथ और इति था? वह जुगाड़ तो बाबा विश्वनाथ बिठा ही देते थे, पर भीतर कुरकुराहट-सी मची रहती। क्या यही बाबा की चाकरी है—बैठे-बैठे खाना और पगुराना, कोई काम नहीं कि लगे, पृथ्वी पर आना धन्य हुआ? वह न सही, तो यही लगे कि जितना खाते हैं, उतने का प्रतिदिन कर रहे हैं! बाबा की देहरी पर पड़े रहना तो ठीक, लेकिन परजीवी होना? क्या संसार में अपने हिस्से का कोई काम नहीं? वे किसी से नहीं जुड़ सकते, कोई ऐसा नहीं जो उनकी प्रतीक्षा करे, जिसे उनकी जरूरत हो, जिसका उनके बिना कुछ रुका पड़ा हो… ?

ऐसे ही एक दिन मणिकर्णिका घाट पर बैठे थे। हर दिशा से शवयात्राएं आ रही थीं… एक के बाद एक…। जैसे चारों तरफ से छोटी-छोटी जलधाराएं बड़ी धारा से मिलने बढ़ी चली आ रही हों। अंतिम यात्रा सभी…, फिर भी कितनी अलग-अलग। किसी के पीछे गाना-बजाना, उत्सव, तो किसी के पीछे भयंकर चीख-चिल्लाहट—जैसे प्राण उनके खिंचे जा रहे हों, जो पीछे छूट गए। कोई यात्रा अकेली… उदास और वीरान, मात्र चार कंधा देने वाले, …उनके चेहरों पर भी कुछ नहीं। शायद उनकी तरह का ही कोई फालतू था—जैसे आया, वैसे ही गया। भाई लोगों ने जल्दी-जल्दी दाह निबटाया और फिर मजे से एक किनारे बैठ बीड़ी धौंकने लगे।

घाट प्रतिपल चलायमान,⋯पर एक महिला का शव सवेरे से ही एक किनारे पड़ा हुआ था—रग्घू की टाल से नीचे उतरकर जो छुटका चबूतरा है, उसी से सटा हुआ⋯। वह जैसे चबूतरे पर बैठे-बैठे ही लुढ़क गई हो। लोग आते थे, अपना काम खत्म कर चले जाते थे। कभी-कभी तो उस शव के बगल से ही गुजरते थे। ये प्रतीक्षा में थे कि किसी का ध्यान तो उधर जाएगा। अंधेरा छाने को हो आया, पर कोई उस शव का पुछैया नहीं। उतरती शाम⋯। शव के इर्द-गिर्द वीरानी गहराने लगी। फिर वही वीरानी लपलपाती हुई बस्ती की तरफ बढ़ने लगी,⋯वे प्रतीक्षा करते रहे। हवा की हर नई लहर एक और मुट्ठी भर धूल शव के चेहरे पर भुरकती चली जाती। उनके लिए वह सब असह्य हो गया। वे उठे⋯। घाट के ऊपर दफ्तर में जा कर कागज बनवाया और टाल के सामने जा खड़े हुए। धेला पास में नहीं था, इसलिए केवल खड़े हो गए और उस शव की तरफ इशारा कर दिया। लकड़ियां मिल गईं। स्वयं बटोरकर लाए और चिता सजाई। अकेले ही शव को स्नान करा चिता पर रखा⋯।

शरीर क्या था,⋯एक सूखी लकड़ी। महिला का अंत जो था, वह उनके सामने था⋯। आदि और मध्य कैसा रहा होगा? कोई नहीं था दिवंगत का, या क्या पता घर में सब कोई हो और किसी विवाद के चलते झटके में सब-कुछ छोड़ आई हो⋯, या कोई रुग्णा, पर घोर आस्थावती थी, रेंग-रेंग कर मणिकर्णिका घाट तक पहुंच ही गई। कौन⋯ कहाँ की⋯ कुछ नहीं मालूम। जीवन-भर उनकी अजनबी, पर शरीरांत पर सगी हो गई⋯ मां⋯।

अग्नि देते समय उनकी आंखें छलछला आईं, आंसुओं से अवरुद्ध दृष्टि लपटों के पार आसमान के चौखटे पर⋯, अंधेरे का वह हिस्सा कैसा चमक-चमक उठता था।

बांह, जिस पर पगला बाबा का सिर टिका था, वह कुछ गीली-गीली लगी।⋯अरे⋯ इतने वर्षों बाद भी! माता⋯ भागते-भागते चूल ढीले पड़ गए, कब तक चलते रहना होगा⋯?

उस शाम जैसे उन्हें अपना धर्म मिल गया था—जिसका कोई नहीं, उसका सब कोई। संसार-यात्रा का एक छोटा-सा भाग जहां व्यक्ति अशक्त हो जाता है।⋯मात्र निस्पंद देह⋯। वहां उसे आगे की तरफ ठेल देना, पंचभूत पंचतत्त्वों को सौंप देना। वे पगला बाबा हो गए। कहां के थे, क्या नाम था, कौन जाति⋯ धर्म⋯ सब 'पगला' में डूब गया।

दिन⋯ मास⋯ वर्ष⋯, जैसे गंगा मैया की नई पर नई जल लहरी। कितने लोग कितनी तरह की उधेड़-बुन में व्यस्त, पर उनके लिए एक ही धुन⋯, एक ही काम। बस्ती के किसी कोने से मणिकर्णिका घाट⋯, फिर-फिर वही। सबको जीवन पार पहुंचा-पहुंचा कर लौटते हैं। पागल की तरह हर पल दौड़ते रहते हैं। थकान से पिंडलियां दुखने लगीं, या निंदास में कहीं बैठ गए कि एकाएक फिर झटका देकर उठ बैठते हैं⋯ चल पड़ते हैं। काम पूरा होने को फिर भी नहीं आता। हर पल यही लगता रहता है कि किसी कोने में कोई छूट गया, कहीं कोई उनकी प्रतीक्षा कर रहा है। पगला बाबा भागते रहते हैं, अपनी ठिलिया के साथ-साथ⋯।

लोगों की अनुकंपा है कि कर्म से डोम, फिर भी अस्पृश्य नहीं मानते लोग। कहते हैं, पगला बाबा का कलेजा गजब का है। कोई कहता है, वे शिवजी के गण हैं, कोई उन्हें काशी के कोतवाल बाबा भैरवनाथ का अवतार बताता है। क्या कहा जाए! वे किससे कहें कि एक समय अवश्य था, जब मोह-माया व्यापती ही नहीं थी, पर अब⋯, अब वे दूर-दूर तक हिलगे चले जाते हैं—जो गया उसने क्या पाया, क्या खोया, कितना भोगा⋯, क्यों⋯? कितनी तरह से प्रश्न भीतर कुलबुलाने लगते हैं। माया उनके लिए कैसे-कैसे खेल रचाती है⋯, छोटे-छोटे खेल! घाट तक की इस सहयात्रा में कोई दादा हो जाता है, तो कोई ताऊ, कोई काका। भैया-भौजी तो कितने गए⋯ और आज⋯, आज एक बच्चा था⋯, जैसे उनका अपना⋯। प्रभु ने तो गृहस्थी से दूर रखा, फिर भी उनका! कैसा फूल-सा, हाथ में उठाते ही मन टूटने लगा। जिसने अभी ठीक से आंखें भी नहीं खोलीं⋯, कुछ देख नहीं पाया⋯, कैसा अनाथ-सा घूमता रहा होगा⋯ प्रभु, उस पर से तुमने अपना संरक्षण उठा लिया, ⋯ इतना निष्ठुर हो सकता है तू? बच्चों को कष्ट मत दे विस्सनाथ! हमें दे⋯, हम हैं अभी। 'ओ⋯ छिद्दू भैया⋯'।

पगला बाबा का जी बहुत जोरों से घबराने लगा। टटोलकर अपनी घंटी उठाई और टनटनाने लगे। घंटी की आवाज, जो दिन के शोर में भी ऊपर चढ़कर बोलती थी, रात के सन्नाटे में खासी तीखी और डरावनी हो उठी। छिद्दू भागा-भागा बाहर आया। पहले कभी पगला बाबा ने रात को घंटी नहीं बजाई। देखा तो पगला बाबा बैठे बेचैनी से सिर हिलाए जा रहे हैं—चेहरा सिंदूरी, आंखें आग के गोले।

'आपको तो बहुत तेज बुखार है बाबा⋯, भीतर चलिए⋯।'

शेष पृष्ठ 52 पर

नरेश मेहता की कविता

मंत्र-गंध और भाषा

कौन विश्वास करेगा कि
फूल भी मंत्र होता है?

मैं अपने चारों ओर
एक भाषा का अनुभव करता हूं
जो ग्रंथों में नहीं होती
पर
जिसमें फूलों की-सी गंध
और बिल्वपत्र की-सी पवित्रता है,
इसीलिए मंत्र
केवल ग्रंथों में ही नहीं होते।

धरती को कहीं से छुओ
एक ऋचा की प्रतीति होती है।
देवदारुओं की देह-यष्टि
क्या उपनिषदीय नहीं लगती?
तुम्हें नहीं लगता कि
इन भोजपत्रों में
एक वैदिकता है
जिसका साक्षात नहीं किया गया है?
ये प्रपात
स्तोत्र-पाठ ही तो करते हैं।
यह कैसी वैश्वानरी-गंध
गायत्री छंदों में
धूप के पग धरती
वनस्पतियों पर उतर रही है।
सावित्रियों के इस अरण्य-रास का वर्णन
किसी शतपथ में नहीं मिलेगा।

इसीलिए मैं एक भाषा का अनुभव करता हूं
जो ग्रंथों में नहीं होती
पर प्राय: जिसे मैंने
भाषाहीन वनस्पतियों में सुना है।

मैंने इस भूमि को जब भी देखा है
गायत्री ही देखा है।
कभी नदियों को उनके एकांत में देखो—
औषधियों का आचमन करती हैं।
पेड़ों के फलों
गायों के दूध, और
मनुष्य मात्र की दृष्टि
किसी को भी सूंघो—
सूर्य की सुगंध मिलेगी।
कहीं भी जाओ
एक संपूर्ण अनुष्टुप
इस पृथिवी पर लिखा मिलेगा।

इसीलिए मैं एक भाषा का अनुभव करता हूं
जो ग्रंथों में नहीं होती
पर प्राय: जिसे मैंने
एकांत और कोलाहलों में सुना है।

रात और दिन के कृष्ण-शुक्ल स्वरों में
ये सूर्याएं
यजुर्वेद हो जाती हैं।
प्रत्येक क्षण एक मंत्र
वनस्पति में परिणत होता है
जिसकी गंध
फूल मात्र में होती है।

नाम, सीमा का होता है
असीम का नहीं,
तब भला उस गंध को क्या नाम दोगे
जो फूल मात्र में होती है?
हमारी सारी भाषाओं से परे
वह एक साक्षात है
जो केवल एकांत की मंत्र-गंध होता है
और वह केवल अवतरित होता है।

इसीलिए मैं एक भाषा का अनुभव करता हूं
जो ग्रंथों में नहीं होती
क्योंकि उनमें फूल, मंत्र नहीं होता,
जबकि कौन विश्वास करेगा कि
फूल भी मंत्र होता है,
क्योंकि फूल
एक शब्द ही नहीं संपूर्ण भाषा है।

❖

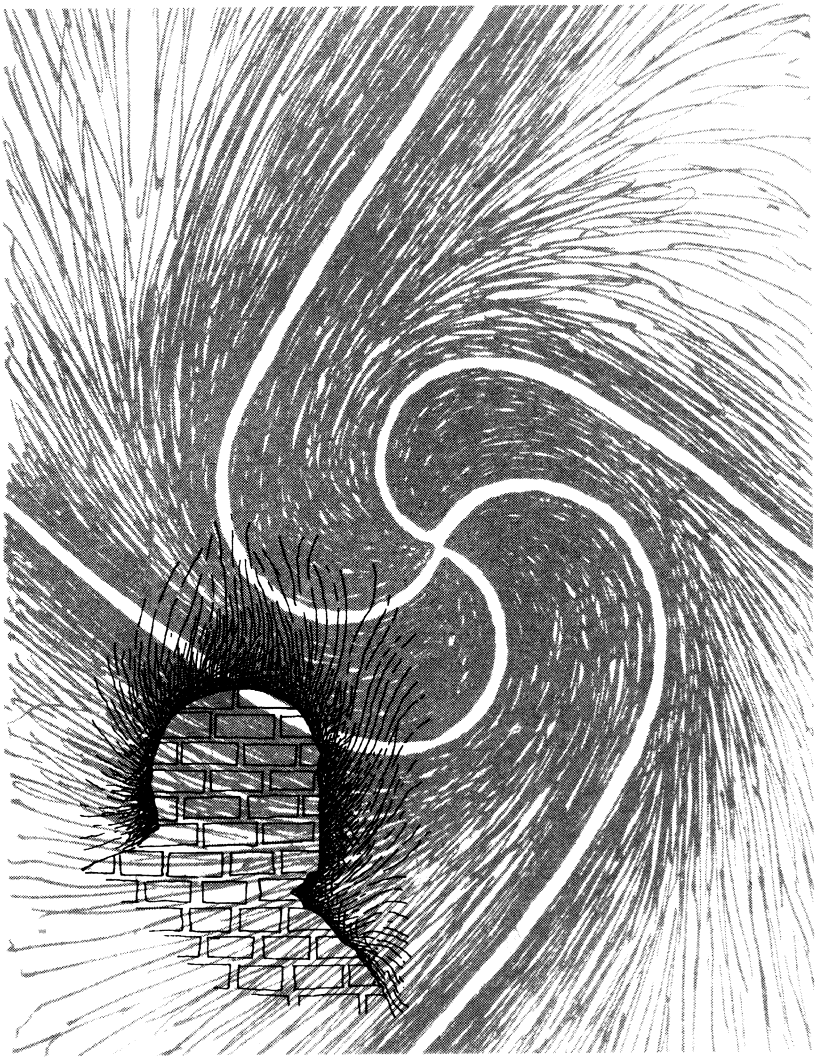

शीलन

योगसंन्यस्तकर्माणं ज्ञानसंछिन्नसंशयम्।
आत्मवन्तं न कर्माणि निबध्नन्ति धनंजय।।

4-41

जो मनुष्य त्याग-भाव से कर्म करता है, जिसने ज्ञान के द्वारा संशय को छिन्न कर डाला है और जो सदैव अपने आत्मा के प्रति जाग्रत रहता है, उसे कर्म नहीं बांधते।

—श्रीमद्भगवद्गीता पर विवेचना

—सी. राजगोपालाचार्य

आत्मअनुभूति : साधना का मूल

□□ मुनि किशनलाल □□

देखना और जानना चेतना का एक गुण है। देखने और जानने की इस प्रक्रिया से दृश्य और दृष्टा, ज्ञेय और ज्ञाता एकाकार हो जाते हैं। जब दृश्य और दृष्टा एकाकार होता है, तब केवल देखना और जानना ही घटित होता है। उस क्षण ज्ञान में राग-द्वेष का भाव नहीं रहता। विशुद्ध ज्ञान ही केवल-ज्ञान है। केवल-ज्ञान से चेतना अतीत की ओर उन्मुख होती है, तब पूर्व जन्म के अनुभव और घटनाएं स्पष्ट होने लगती हैं। जब चेतना भविष्य उन्मुख होती है, तब व्यक्ति के भविष्य में होने वाली घटनाओं और अनुभूतियों का साक्षात्कार होने लगता है। इसमें कितना यथार्थ है, इस पर शोध होने पर कोई निष्कर्ष निकल सकता है।

जाति-स्मरण ज्ञान एक सचाई है। उससे आगे-पीछे की यात्रा की दिशा को स्पष्ट किया जा सकता है।

जीवन को जानना हो तो जन्म और मृत्यु को भी जानना होगा। जीवन जन्म से शुरू होता है और मृत्यु से उसका अंत हो जाता है। जन्म और मृत्यु के कारणों का ज्ञान हो जाने पर जीवन का ज्ञान भी सहज हो जाता है। जीवन कैसा है? उसे ठीक से समझने के लिए मृत्यु का एहसास जरूरी है। मृत्यु के साक्षात से अहंकार के बड़े-बड़े टीले भी काफूर हो जाते हैं। जन्म और मृत्यु के दो खंभों के मध्य जीवन झूलता हुआ एक चिराग है।

आत्म-विद्या : परम-विद्या

विद्या ज्ञान और विज्ञान है। अंतर्मुखता की ओर ले जाने वाली विद्या ज्ञान है और बहिर्मुखता की ओर ले जाने वाली विद्या विज्ञान है। ज्ञान और विज्ञान, दोनों ही शब्दों में 'ज्ञान' छुपा है। ज्ञान न कभी भौतिक होता है और न आध्यात्मिक होता है। ज्ञान मात्र ज्ञान होता है। पदार्थ-सापेक्ष ज्ञान भौतिक या सांसारिक-ज्ञान है—विज्ञान है। चेतना-सापेक्ष ज्ञान आत्म-विद्या है—ज्ञान है। आत्म-विद्या परम-विद्या है। परम-विद्या परम अवस्था है जो परमात्म-पद को प्राप्त करवाती है।

आत्म-विद्या का मूल तत्त्व आत्मा है

आत्म-विद्या अंतर्मुखता की ओर प्रयाण करती है, तब पहला तत्त्व प्रकट होता है—आत्मा। आत्मा अरूपी-सत्ता है। उसे देखा नहीं जा सकता। उसका अनुभव किया जा सकता है। आत्मा के साक्षात्कार से पहले पदार्थ का साक्षात करना होता है। पदार्थ व्यक्त है, रूपी है। उसे जाना जा सकता है। उसके स्वरूप का साक्षात्कार किया जा सकता है। शब्द, रस, गंध, वर्णवान पुद्गल पदार्थ होता है। पदार्थ को स्पर्श,

गंध, रस, रूप और शब्द से पहचान सकते हैं। वह निर्जीव और सजीव, दोनों प्रकार का होता है। जड़ यानी चेतना-च्युत, अर्थात् जो मृत्यु को प्राप्त हो गई, अर्थात् चेतना अपने स्थूल शरीर का परित्याग कर अन्यत्र गतिशील हो गई—तब शेष रहा ढांचा निर्जीव हो गया, पर यह यथार्थ है कि निर्जीव ढांचे में पहले जीव था। जीव की क्रिया ज्ञान एवं उपयोग से ही जानी जा सकती है। दिखाई देने वाला यह ढांचा सजीव है, चेतना-युक्त है। जिस तरह पंखें, बिजली अथवा अन्य किसी यंत्र की सक्रियता से यह अनुभव किया जाता है कि 'करंट' है, उसकी क्रियाशीलता यह दर्शाती है कि विद्युत है। ऐसे ही जीवंत शरीर की क्रियाशीलता से यह बोध होता है कि इसमें चेतन-तत्त्व आत्मा है। दूसरा तत्त्व है—ज्ञान; 'अहं', 'अस्मि', 'मैं हूं'—का जो बोध है, यह चेतन-तत्त्व-आत्मा को ही होता है। निर्जीव पदार्थ से यह बोध नहीं होता कि 'मैं हूं'। अस्तित्व—चेतन और पदार्थ, दोनों का गुण है। पुद्गल परमाणु का भी अस्तित्व है और चेतना के आत्म-प्रदेशों का भी है। एक परमाणु नष्ट नहीं होता है और नया उत्पन्न नहीं होता है—मात्र परिवर्तन होता है। पर्याय-परिवर्तन से यह जाना जाता है कि परिवर्तन पदार्थ का स्वभाव है। ऐसे ही चेतना का एक गति से दूसरी गति में जाना और परिवर्तन होना—गतिशीलता है।

परिवर्तन गौण तत्त्व है

परिवर्तन प्रतिक्षण होता है—पूर्व पर्याय का विलय, नए पर्याय का उद्भव। गौतम बुद्ध ने प्रतिक्षण परिवर्तन को क्षणिकवाद के रूप में स्वीकार किया। अनित्यता का सिद्धांत बौद्ध दर्शन का मूल है। इस सचाई को उन्होंने प्रत्यक्ष अनुभव किया और स्वीकार किया। आत्मा के संबंध में 'बुद्ध' से पूछा गया—क्या आत्मा है? भगवान बुद्ध का उत्तर था—स्वीकार नहीं किया जा सकता कि आत्मा है। क्या आत्मा नहीं है? इनकार भी नहीं किया जा सकता कि आत्मा नहीं है। तब फिर क्या है? 'आत्मा है'—यह भी नहीं, 'आत्मा नहीं है'—यह भी नहीं। मात्र इतना कहा जा सकता है कि—'आत्मा अवक्तव्य' है। उसको कहा नहीं जा सकता। आत्मा के अस्तित्व के बारे में मौन ही उत्तम उत्तर है। दीपक की लौ जल रही है, उसका आधार है—तेल, बाती, मिट्टी का दीपक और प्रज्वलित लौ। मिट्टी का दीपक न हो तो तेल टिकेगा किसमें? दीपक और तेल है, किंतु उसमें बाती नहीं हो तो तेल ज्योति तक कैसे पहुंचेगा? तेल यदि बाती तक पहुंच भी जाए, पर बाती जलती हुई न हो तो उजास कैसे होगा? रोशनी के लिए अग्नि, बाती, तेल और मिट्टी के दीपक बिना ये सारी व्यवस्था कैसे पूरी होगी? बाती बुझ जाती है, तब रोशनी कहां चली जाती है? यह ऐसा सवाल है जिसका उत्तर सरल नहीं है।

भगवान महावीर इस अधूरे प्रश्न को यहीं नहीं छोड़ देते हैं, अपितु स्वीकार करते हैं कि चेतना की ज्योति पूर्व में भी थी, वर्तमान में भी है और भविष्य में भी रहेगी। आत्मा है, आत्मा थी, आत्मा रहेगी। आत्मा की इस स्वीकारोक्ति का आधार है—परिवर्तनशीलता। द्रव्य का स्वरूप ही है कि उसमें पर्याय उत्पन्न होता है। विलय होता है। उत्पन्न होना, विलय होना ही यह सिद्ध कर रहा है कि उत्पत्ति और विलय किसमें हो रहा है? जिसमें हो रहा है—वह द्रव्य है, तत्त्व है। यह परिवर्तनशीलता चेतना और पदार्थ, दोनों में है। यदि वह नित्य होता तो उसमें कुछ नई उत्पत्ति और विलय नहीं होता। तब उस ठोस द्रव्य के नित्यत्व को स्वीकार कर लेते। जो केवल अनित्यत्व, क्षणिकत्व की चर्चा करते हैं कि पदार्थ द्रव्य ही नहीं है, तो कैसे उसमें अनित्यत्व प्रकट होता? बौद्धिक, दार्शनिक पहेलियां तर्क-वितर्क के वैचारिक तरकशों से चलती रही हैं, चलती रहेंगी। सत्य को पाने के लिए अनेकांत की दृष्टि से ही इस निष्कर्ष पर पहुंच पाएंगे कि यह भी सत्य है, वह भी सत्य है। 'भी'—के प्रयोग से सत्य को उपलब्ध किया जा सकता है। एकांतवादी—'ही'—कभी सत्य को अभिव्यक्त नहीं कर सकता।

पूर्वजन्म, वर्तमान का जीवन और होने वाला पुनर्जन्म, इस त्रिआयामी बिंदु ने आत्मा के अस्तित्व को स्वीकार किया। दूसरा तर्क यह भी है कि आत्मा नहीं है, तो जन्म किसका होगा? पुनर्जन्म किसका होगा और किसका होगा पूर्व-जीवन? यह केवल पहेली ही नहीं है, यथार्थ है—जिससे इनकार नहीं किया जा सकता। भगवान महावीर ने स्पष्ट उद्घोषणा की कि आत्मा है, उसका पूर्वजन्म और पुनर्जन्म भी है। उन्होंने स्वयं के जीवन की अतीत की घटनाओं का जिक्र किया। जैन साहित्य में पूर्वजन्म की अनेक घटनाओं का उल्लेख मिलता है। बुद्ध जातककथाओं में बुद्ध के पूर्व-जीवन की घटनाओं का उल्लेख है। वेद, उपनिषद एवं पुराणों में अनेक स्थलों में पूर्व-जीवन एवं पुनर्जन्म का विवरण है।

भगवान महावीर ने पूर्वजन्म स्मृति को जाति-स्मरण कहा है। आचारांग में बताया गया है कि जाति-स्मृति तीन प्रकार से उत्पन्न होती है—**1. स्वस्मृति** : बचपन में सहज

रूप से अपनी ही मति से। 2. **पर व्याकरण** : आप्तपुरुषों, तीर्थंकरों आदि के निरूपण से। 3. **दूसरों से सुनकर** : ज्ञानी व्यक्ति या दूसरे के द्वारा किसी विशेष प्रयोग, घटना आदि का विवरण सुन कर।

आत्म-विद्या का परिपार्श्व तत्त्व---कर्म; कषाय

शिष्य ने भगवान महावीर से प्रश्न किया—भंते! यह प्राणी बारबार जन्म और मृत्यु को क्यों धारण करता है? इसका कारण क्या है? भगवान महावीर ने सहज, सरल उत्तर दिया—क्रोध, मान, माया, लोभ—यह चतुष्क कषाय हैं। इन चारों के कारण व्यक्ति को जन्म-मृत्यु का वरण करना होता है।

कषाय शब्द जैन पारिभाषिक शब्द है। कषाय चेतना की मलिन वृत्ति है। चेतना की मलिन वृत्ति का कारण है—स्वकृत कर्म-समूह। जब चेतना किसी प्रवृत्ति में प्रवृत्त होती है, उस समय की भावदशा से वह भावित होती है। वह भावदशा कर्मों को आकृष्ट करती है। यह बात सरलता से समझने के लिए यह लघु दृष्टांत उपयोगी है—लोहपिंड में 'विद्युत' प्रवाहित की जाती है, उस विद्युत-प्रवाह से लोहपिंड में चुंबकीय शक्ति आ जाती है। वह दूसरे लोह-टुकड़ों को अपनी ओर खींचने लगती है। यदि उसमें से विद्युत-प्रवाह को निकाल दिया जाए तो वह मात्र लोहपिंड रह जाता है। उसमें विद्युत नहीं रहती। इसी तरह शुभ-भाव और अशुभ-भावों से चेतना में स्पंदन उत्पन्न होते हैं। ये स्पंदन बाहर से तदनुरूप परमाणुओं को आकर्षित करते हैं। आकर्षित परमाणु-वर्गणाएं कर्म कहलाती हैं। कर्म जिस भाव-दशा से आकर्षित हुए हैं, उन भावों को वे उदयकाल में प्रकट करते हैं। व्यक्ति की भाव-दशा उसके अनुरूप बन जाती है। कर्मों के कारण उनकी जैसी वृत्तियां बन जाती हैं, व्यक्ति उसी तरह की प्रवृत्ति करने लगता है।

कर्मों की क्षमता अथवा उसके अनुरूप भोगभूमि के आधार पर प्राणी जन्म की ओर आकर्षित होता है। जन्म के कारणों की खोज में कर्म का योगदान भी है। साथ ही मूर्च्छा वश व्यक्ति ने किसी को मारने अथवा प्रेम करने का संकल्प कर लिया हो तो उसका जन्म भी उसी के आस-पास हो जाता है। इस तरह मृत्यु भी व्यक्ति की अपनी जैसी भावधारा होती है और उसके अनुकूल वातावरण, व्यवस्था मिल जाती है।

जन्म और मृत्यु का ज्ञान : आत्मा की ओर

जीवन को जानना हो तो जन्म और मृत्यु को भी जानना होगा। जीवन जन्म से शुरू होता है और मृत्यु से उसका अंत हो जाता है। जन्म और मृत्यु के कारणों का ज्ञान हो जाने पर जीवन का ज्ञान भी सहज हो जाता है। जीवन कैसा है? उसे ठीक से समझने के लिए मृत्यु का एहसास जरूरी है। मृत्यु के साक्षात से अहंकार के बड़े-बड़े टीले भी काफूर हो जाते हैं। जन्म और मृत्यु के दो खंभों के मध्य जीवन झूलता हुआ एक चिराग है।

जन्म के संबंध में बहुत-कुछ जाना गया है। प्राणी किस तरह गर्भ में विकसित होता है और फिर जीवन-यापन की यात्रा करता है और अंत में मृत्यु को वरण कर लेता है। मृत्यु के पश्चात् कहां जाता है? क्या होता है? इस संबंध में अभी तक विशेष जानकारी नहीं है। कुछ व्यक्तियों ने पिछले जन्म की घटनाओं का उल्लेख करते हुए बताया कि—मैं उस घर का मालिक हूं। मेरे परिवार के ये माता-पिता हैं।

मैं कौन हूं? कहां से आया? कहां जाऊंगा? इस बारे में अधिकांशतः कोई नहीं जानता। कुछ एक व्यक्तियों को यह जानकारी होती है कि—मैं चेतना हूं। मैं दिव्य-योनि से आया हूं। मैं यह जीवन व्यतीत कर रहा हूं, पर आगे कहां जाऊंगा—यह उसे व्यक्त नहीं है।

प्रेक्षाध्यान से व्यक्ति स्वयं के अस्तित्व का बोध कर सकता है। राग-द्वेष रहित वर्तमान क्षण का अनुभव कर सकता है। दीर्घकाल तक वर्तमान में रहना, आत्मा की ओर गतिशील होना है।

आत्मा की अनुभूति साधना का मूल है। बिना आत्मा की अनुभूति के साधना में गति हो ही नहीं सकती है। आत्मा है, वह कर्मबद्ध है और उसे कर्ममुक्त करना है—यही साधना का आधार है। बंधन का कारण राग-द्वेष है और मुक्ति का आधार वीतरागता है। इसलिए साधक को आत्म-साक्षात का पुरुषार्थ करना चाहिए। ❖

हमारी भोगवादी वृत्ति ने ही प्रकृति के अनुचित दोहन के लिए हमें मजबूर किया है, जिसके चलते पर्यावरण प्रदूषण एक गंभीर खतरा पैदा कर रहा है। यदि हम और हमारा समाज अपरिग्रह या सीमित भोग की ओर दृढ़ नहीं होगा तो पर्यावरण का प्रदूषण बढ़कर सत्यानाश कर देगा। अतः अपरिग्रह आज पहले से कहीं अधिक प्रासंगिक है।

—रामजीसिंह

स्वास्थ्य क्या है : जानें

साध्वी कल्पमाला

हमें सबसे पहले समझना होगा कि स्वास्थ्य क्या है? स्व+स्था अर्थात् अपने में रहना। अपने में रहने से तात्पर्य यह है कि शरीर द्वारा अपने मौलिक गुणों को धारण करना। शरीर का मौलिक गुण है स्वस्थता, अस्वस्थता उसका आकस्मिक गुण या विकृति है।

मानव जाति के समक्ष स्वास्थ्य आज एक जटिल समस्या है। लोग स्वास्थ्य की कामना करते हैं और इसके लिए अनेक विधाओं में प्रयोग भी जारी हैं, किंतु अभी तक सुनिश्चित समाधान का द्वार नहीं खुला है। आखिर क्या कारण है कि अनेक प्रणालियों जैसे—ऐलोपैथिक, होमियापैथिक, आयुर्वेदिक, प्राकृतिक चिकित्सा, चुंबक प्रणाली, ध्वनि-तरंग आदि का भारी प्रचलन होने पर भी अस्वस्थता दिन-प्रतिदिन बढ़ती जा रही है?

हमें सबसे पहले समझना होगा कि स्वास्थ्य क्या है? स्व+स्था अर्थात् अपने में रहना। अपने में रहने से तात्पर्य यह है कि शरीर द्वारा अपने मौलिक गुणों को धारण करना। शरीर का मौलिक गुण है स्वस्थता, अस्वस्थता उसका आकस्मिक गुण या विकृति है।

स्वास्थ्य तीन प्रकार का होता है—शारीरिक, मानसिक और भावनात्मक। कहा जाता है कि—'पहला सुख निरोगी काया'। सफल जीवन-निर्वाह के लिए तीन प्रकार के स्वास्थ्य की अपेक्षा होती है और तीनों एक-दूसरे से संबंधित हैं। शरीर स्वस्थ है तो मन भी स्वस्थ है। किसी विज्ञ पुरुष ने इसकी महत्ता को उजागर करते हुए कहा है—'साउंड माइंड इन साउंड बोडी'—अर्थात् स्वस्थ शरीर में ही स्वस्थ दिमाग रहता है।

विश्व स्वास्थ्य दिवस
7 अप्रैल, 2009
विशेष

शारीरिक अस्वस्थता का सबसे बड़ा और प्रथम कारण अनियमित दिनचर्या का होना है। देरी से सोना और देरी से उठना आज 'फैशन' सा हो गया है। सबसे पहले 'बेड-टी' फिर शौच, दातुन और स्नान। व्यायाम तो नाम-मात्र रह गया है। व्यायाम के अभाव में आज विदेशों में छोटे-छोटे किशोरों की स्थिति भी चिंताजनक है। वे धरती पर तो दस मिनट के लिए भी नहीं बैठ सकते और यदि बैठ भी जाते हैं तो बीस बार आसन बदलने पड़ते हैं।

शारीरिक अस्वस्थता का दूसरा कारण है—खान-पान की

विकृति। प्राचीन इतिहास बताता है कि पहले लोग जंगलों में रहते थे। कच्चे फल-फूलों से अपना जीवन-निर्वाह करते थे। उनका शरीर हृष्ट-पुष्ट व बेजोड़ शक्तिसंपन्न होता था, किंतु जैसे-जैसे विकास हुआ, परिस्थितियां बदलीं—लोग अभक्ष्य भी खाने लगे। इससे ऐंद्रिक आकांक्षाएं और वृत्तियां असंयमित बन गईं। घर का चूल्हा बुझाकर होटलों में खाना, तली हुई चटपटी और मसालेदार वस्तुएं खाना—ये सब अस्वस्थता के कारण नहीं तो और क्या हैं? इसीलिए आज शिक्षित जन-मानस की कांति निस्तेज होती जा रही है। चेहरे पर हवाइयां उड़ रही हैं।

अस्वस्थता का तीसरा कारण है—आवश्यकता से अधिक खाना। किसी कवि ने अपनी कविता में ऐसे लोगों पर व्यंग्य करते हुए लिखा है कि—'कई जीभ रा बड़ा लोलुपी अणहुंतो ही खावे है, माल मुफत रा मिल जावे जद मन री हूंस पुरावे है; मिले बादामां री कतल्यां जद ठूंस-ठूंस कर खावै है, चढ़े आफरो टलबलाट और पेट ढोल बण ज्यावै है।'

भगवान महावीर ने रोगोत्पत्ति के कई कारण बतलाए हैं। मुख्य हैं—1. अत्यधिक आहार, 2. अहितकर आहार, 3. बार-बार आहार, 4. उत्तेजना-वर्धक आहार आदि। इसी तरह शारीरिक अस्वस्थता का एक कारण नशीली वस्तुओं का सेवन करना भी है। आज कई ऐसे लोग मिलेंगे जो इन्हीं के सहारे अपनी सांसों को धारण किए हुए हैं। शराब, भांग, गांजा, सिगरेट, तंबाकू आदि ऐसे पदार्थ हैं, जो एक बार उत्तेजना या कहें कि नकली-स्फूर्ति पैदा करते हैं, पर अंततः व्यक्ति को शक्ति-क्षीण और दुर्बल बनाते हैं। लगता है कि व्यक्ति चाबी का मात्र एक खिलौना बन गया है। कहा जाता है—**शरीरमाद्यं खलु धर्मसाधनम्**—शरीर के द्वारा हम प्रत्येक कार्य संपादित कर सकते हैं। अत: यह जरूरी है कि शारीरिक अस्वस्थता के कारणों को जान लेने के बाद हम उसके निवारण पर चिंतन करें।

शारीरिक स्वास्थ्य को पाने के लिए सबसे पहले हमें अपनी दिनचर्या नियमित करनी चाहिए। जैसे कहा गया है कि—'अरली टू बेड एंड अरली टू राइज, मेक ए मैन हेल्दी, वेल्दी एंड वाइज'—बिस्तर पर जल्दी जाना और ब्रह्ममुहूर्त में उठ जाना व्यक्ति को

ऋतु और प्रभाव

❑ वैद्य रमेश नानल ❑

आयुर्वेद ने पथ्य और मात्रापूर्वक आहार सेवन करने से रोग नहीं होते—ऐसा कहा है। किंतु, यह देखा जाता है कि इस प्रकार भोजन ग्रहण करने पर भी ऋतुओं के बदलने पर रोग उत्पन्न हो जाते हैं। अतः स्वस्थ रहने के लिए ऋतुनुसार आहार-विहार में परिवर्तन करना चाहिए। ऐसा करने पर ही सेवन किए हुए आहार के उत्तम गुणों का लाभ मनुष्य को होता है। अगर वह यह नहीं जानता कि किस ऋतु में कौन-सा आहार लेना चाहिए, तो पथ्यपूर्वक एवं मात्रापूर्वक आहार लेने पर भी उसे आहार का उचित फल प्राप्त नहीं होगा। इसलिए आयुर्वेद ने ऋतुओं के अनुसार आहार तथा विहार करने का उपदेश किया है, जिससे सर्वकाल स्वस्थ रहा जा सके। इसी को ऋतुचर्या कहते हैं। नित्यग काल के अनुरूप मनुष्य की चर्या बदलने का आयुर्वेद का यह उपदेश उसके सृष्टि एवं शारीरिक क्रियाओं के प्रति सूक्ष्म और गहरे ज्ञान का परिचय देता है। ऋतुचर्या का इतना शास्त्रीय और व्यवहार्य विवेचन आयुर्वेद में ही मिलता है।

अब दूसरा प्रश्न यह कि, काल का यह विभाजन किस आधार पर किया गया है? इसका उत्तर हमने देखा है—ज्योतिषशास्त्र में सूर्य, चंद्र, पृथ्वी—इनके विशेष संबंध को ध्यान में रखते हुए काल का विभाजन किया गया है। इसमें इन तीनों में परस्पर दूरी का कम या अधिक होना एवं इनके परस्पर अन्य संबंधों को ध्यान में रखते हुए काल का विचार किया जाता है। आयुर्वेद में कहा है—

विसर्गादानविक्षेपैः सोमसूर्यानिला यथा।
धारयन्ति जगद्देह कफपित्तानिलास्तथा।।

अर्थात् सृष्टि में जिस तरह विसर्ग, आदान और विक्षेप में क्रमशः चंद्र, सूर्य और वायु कारण है—ठीक उसी तरह मानवी देह में यह कार्य क्रमशः कफ, पित्त एवं वात से होता है।

शीतांशु क्लेदयत्युर्वी विवस्वान् शोषयत्यपि।
तावुभावपि संश्रित्य वायुः पालयति प्रजाः।। सु. सू. 6

अर्थात् पृथ्वी को चंद्रमा अपनी शीत किरणों द्वारा क्लिन्न (आर्द्र) रखता है और सूर्य सुखाता है तथा चंद्र और सूर्य, दोनों का आश्रय लेकर वायु प्रजा का पालन करता है। वायु →

शक्तिशाली, स्वस्थ और बुद्धिमान बनाता है। सुबह जल्दी उठना, नित्यकर्म के पश्चात् प्रातःरास में दूध के सिवाय गरिष्ठ पदार्थ नहीं लेना—यह सब नियमित होने पर शरीर नियंत्रित और संयमित हो जाता है। व्यायाम, आसन, प्राणायाम, खेल-कूद, भ्रमण और उचित श्रम आदि हमारे स्वास्थ्य के लिए नितांत आवश्यक हैं। मजदूर वर्ग का शारीरिक सहनन अच्छा होता है, क्योंकि वे शारीरिक श्रम करते हैं और भोजन में रोटी और सब्जी लेते हैं।

महात्मा गांधी ने अपनी आत्मकथा में लिखा है—'कसरत में ना जाने से मुझे कोई नुकसान न हुआ। उसका कारण है, पुस्तकों में पढ़ा था कि खुली हवा में घूमना अच्छा होता है। यह मुझे पसंद आया और तभी से घूमने जाने की आदत मुझ में पड़ गई। घूमना भी एक प्रकार का व्यायाम है। इसी कारण मेरा शरीर थोड़ा-बहुत सुगठित हो गया।'

प्रदूषण-युक्त वातावरण से बचने के लिए हमें अपना आवास स्थल खुले मैदान तथा कल-कारखानों और रेलवे लाइन से दूर बनवाना चाहिए। घर के पास में अधिक से अधिक पेड़-पौधे लगा कर पर्याप्त मात्रा में ऑक्सीजन प्राप्त करके हम अपने स्वास्थ्य की सुरक्षा कर सकते हैं। नशीली तथा उत्तेजनावर्धक वस्तुओं के सेवन का वर्जन कर हम अपने शरीर को स्वस्थ बना सकते हैं। स्वस्थ शरीर के साथ आहार-विवेक का घनिष्ठ संबंध है। इसके बारे में किसी विद्वान ने कहा है—नियमित आहार-विहार, क्रियाएं आदि होने से व्यक्ति स्वस्थ रह सकता है। हित, मित, सात्त्विक और पौष्टिक आहार तथा उपवास—ये सब मिलकर स्वस्थ जीवन का निर्माण कर सकते हैं। स्वास्थ्य के लिए शाकाहारी भोजन को भी हितकर माना गया है।

आज दूसरी बड़ी समस्या भावनात्मक स्वास्थ्य की है। तनावों से भरी कई जिंदगियां 'रूहों' की तरह भटक रही हैं। बाह्य परिवेश में लोगों की जिंदगियां इतनी उलझ गई हैं कि भीतर के दिव्य-आलोक का कहीं दर्शन ही नहीं कर पातीं। ऐसी स्थिति में जीने वाला व्यक्ति अपने शरीर को यंत्र से अधिक कुछ नहीं मान सकता। यह समस्या पाश्चात्य देशों में अधिक घर किए हुए है। वहां आधुनिक संसाधनों और वैज्ञानिक व

योगवाही होने से दोनों के कार्य में सहयोग देता है। इस प्रकार केवल मानव शरीर, पंचमहाभूत, आत्मा, मन इन पर बाह्य वातावरण में होने वाले परिवर्तनों का क्या परिणाम होता है और सृष्टि के पंचमहाभूतों में ऋतुनुसार क्या परिवर्तन होते हैं—यह देखा जाता है। इस प्रकार आयुर्वेद इन दोनों ही बातों को एक साथ ध्यान में रखते हुए मनुष्य को क्या करना चाहिए अथवा क्या नहीं करना चाहिए—इसका निश्चित रूप से विचार देता है। जैसे हेमंत ऋतु में वातावरण की सर्दी से मानव शरीर में अग्निमहाभूत (जाठराग्नि) बढ़ता है। इस ऋतु में रातें लंबी होती हैं, इससे सुबह उठने पर भूख लगती है और कुछ खाने की इच्छा होती है—यह ऋतु का मनुष्य शरीर, आत्मा और मन पर होने वाला परिणाम है। बाह्य वातावरण की ठंडी हवा, ठंडा पानी इनका विचार अर्थात् पंचमहाभूतों पर होने वाले काल का परिणाम है।

इन सबको ध्यान में रखते हुए आयुर्वेद ने कुछ नियम बताए हैं। पहली बात उन्होंने हेमंत ऋतु में बलदाई—पचने में गुरु, मीठे, खट्टे, नमकीन स्वाद के पदार्थ खाने चाहिए। दूसरी बात इस ऋतु में प्रातःकाल में ही खाना चाहिए और तीसरी बात केसर, अगरु जैसे स्निग्ध, उष्ण द्रव्यों से अभ्यंग (तेल लगाना/मलना) करना, शरीर रगड़ना, व्यायाम करना आदि से ठंड का प्रतिकार करना—ऐसे नियम सिद्ध किए हैं। इन सभी नियमों को ही उस ऋतु की चर्या (बरताव के नियम) कहते हैं। इस तरह ऋतु के अनुसार कुल मिलाकर किस तरह चर्या बरतनी चाहिए—यह बताया है। आहार और ऋतु के संबंध में **क्यों** और **कैसे**—इन दो प्रश्नों का विस्तारपूर्वक विचार करना योग्य होगा। प्राचीन शास्त्रकारों का इस समस्या की तरफ देखने का दृष्टिकोण किस प्रकार सूक्ष्म, विस्तृत एवं योग्य था—यह समझ लेने से आसानी होगी। आयुर्वेद के विषय में पाई जाने वाली बहुत-सी गलतफहमियां दूर होंगी, लोगों के मन में इस प्राचीन शास्त्र के बारे में आदर का निर्माण होगा और इस शास्त्र पर विश्वास दृढ़ होने से शास्त्र को लोगों की सेवा करने का मौका मिलेगा।

हर एक ऋतु की चर्या जान लेने से पहले तीन-तीन ऋतुओं के समूहों में सामान्य बातें दिखाई देती हैं—इस ओर ध्यान दें। इन तीन-तीन ऋतुओं के संगठन को 'अयन' कहते हैं। शिशिर, वसंत और ग्रीष्म मिलकर एक और वर्षा, शरद एवं हेमंत मिलकर एक—ऐसे दो अयन होते हैं। शिशिर, वसंत और ग्रीष्म ऋतुओं में सूर्य उत्तर की दिशा में गमन करता है, अतः इसे

→

तकनीकी कौशल ने अपना प्रभुत्व स्थापित कर लिया है। किंतु, मानसिक पीड़ा से ग्रस्त चेहरों में खुशियों का संचार नहीं हो सका है। महान दार्शनिक प्लेटो ने अपनी पीड़ा को व्यक्त करते हुए कहा है— चिकित्सालयों की सबसे बड़ी भूल तो यह है कि वे शारीरिक चिकित्सा तो करते हैं, किंतु मानसिक नहीं। इस जीवन में कई ऐसे मानसिक पड़ाव हैं, जहां आकर व्यक्ति समस्याओं के जाल में उलझ जाता है।

मानसिक अस्वस्थता की सबसे पहली समस्या है— रोटी, कपड़ा और मकान की। एक तरफ लोग रहन-सहन और खान-पान की ऊंचाइयों तक पहुंच रहे हैं, भौतिक विकास द्रुतगति से होता जा रहा है और दूसरी ओर मानसिक असंगति व असंतुलन भी बढ़ रहा है। विकसित और समृद्ध देशों की इस दौड़ के पीछे यदि भारत या अन्य निर्धन देश दौड़ लगाते हैं, तो सफलता कहां तक संभव है? इस दौड़ में पिछड़ जाने से व्यक्ति निराशा की कंदराओं में जा पहुंचता है, जहां मानसिक अशांति को छोड़कर कुछ नहीं है।

मानसिक अस्वस्थता का दूसरा बड़ा कारण यह भी है कि व्यक्ति अनागत की कल्पनाओं में खोया रहता है। आकाशीय कल्पना तो शीशे के महल के समान है, जो कभी भी चकनाचूर हो सकती है। ऐसा होने के बाद गहरी निराशा और हताशा ही शेष रहती है।

मानसिक अस्वस्थता का तीसरा कारण— परिपार्श्व का वातावरण भी हो सकता है। बच्चे की प्रथम पाठशाला मां होती है। अगर प्यार का दरिया सूखा हुआ होता है तो बच्चा विकास नहीं कर पाता। बच्चों के विकास हेतु प्रोत्साहन, प्रमोद-भावना, मधुर-व्यवहार आदि कुछ ऐसे गुर हैं, जिनके द्वारा बच्चे, युवक, बुजुर्ग सभी प्रभावित हो सकते हैं। मधुर व्यवहार से कठिन से कठिन कार्य भी हो सकता है।

हमारा शारीरिक स्वास्थ्य तभी स्वस्थ रह सकता है और तभी मन भी प्रसन्न रह सकता है।

इन सभी बातों के साथ-साथ अच्छे स्वास्थ्य के कुछ सूत्र भी हमें ध्यान में रखने चाहिए। ❖

उत्तरायण कहते हैं। इस काल में सूर्य अपनी किरणों द्वारा संसार के स्नेहभाग का शोषण करता है, इसलिए आग्नेय कहा जाता है। परिणामस्वरूप शिशिरादि ऋतुओं में यथाक्रम रुक्षता उत्पन्न होती है, मनुष्यों में दुर्बलता उत्पन्न होती है। इसी से उत्तरायण को 'आदानकाल' भी कहा जाता है। इसका मतलब है कि मनुष्यों का बल सृष्टि द्वारा लिया जाता है। यथाक्रम रुक्षता का अर्थ यह है कि शिशिर ऋतु में भूतल पर वनस्पतियों तथा प्राणियों में अल्प रुक्षता, द्रव्यों में तिक्त-रस की अभिवृद्धि और प्राणियों में अल्प दुर्बलता आती है। इस काल में सूर्य उत्तर दिशा को जाना प्रारंभ करता है। यह आदानकाल का प्रथम काल होता है और इसमें मनुष्यों का बल अधिक नहीं घटता। वसंत ऋतु में सूर्य की किरणें कुछ तीव्र होती हैं, जिससे भूमंडल पर मध्यम रुक्षता, कषायरस की वृद्धि और प्राणियों में मध्यम दुर्बलता आती है। जिससे वसंत में शिशिर की अपेक्षा अधिक दुर्बलता पाई जाती है। उत्तरायण के तीन ऋतुओं के सापेक्ष इस ऋतु में मध्यम रुक्षता पाई जाती है। इसके बाद ग्रीष्म ऋतु में सूर्य की किरणें अत्यंत प्रखर हो जाती हैं। तब भूमंडल के सभी पदार्थों में तीव्र रुक्षता, कटुरस की अभिवृद्धि तथा प्राणियों में अत्यधिक दुर्बलता पाई जाती है।

वर्षा, शरद और हेमंत ऋतुओं में सूर्य दक्षिण दिशा की ओर गमन करना प्रारंभ करता है, इसे **दक्षिणायन** कहते हैं। इस कालखंड में मेघ, वायु और वर्षा से उसका तेज कम हो जाता है। चंद्रमा पूर्ण बली रहता है तथा आकाश से जल गिरने के कारण जगत का ताप शांत हो जाता है। मनुष्य का बल भी यथाक्रम बढ़ने लगता है। इसलिए इसे **विसर्गकाल** भी कहते हैं। इस काल में सृष्टि मनुष्य को बल देती है। वर्षा ऋतु में विसर्ग का प्रारंभ होने से भूतलगत पदार्थों में अल्पस्नेह तथा अम्लरस की वृद्धि होती है और प्राणियों में अल्पस्नेह की वृद्धि होने से अल्प-बल बढ़ता है। शरद ऋतु में मध्यम-स्नेह, लवण-रस की वृद्धि तथा मध्यम-बल होता है। हेमंत ऋतु में सूर्य का तेज अत्यंत क्षीण हो जाता है और चंद्रमा पूर्ण बली होकर स्नेहोत्पादन करने लगता है। इससे द्रव्यों में मधुर रस की वृद्धि होती है। उनके उपयोग से प्राणियों में बल की भी पूर्ण वृद्धि होती है।

इन सभी बातों से मौसम के शरीर पर होने वाले परिणाम को इस तरह कहा जा सकता है—ठंडी/जाड़े के मौसम में शरीर उत्तम बलवान होता है। बरसात और गर्मी के मौसम में अत्यल्प बलयुक्त होता है। अन्य ऋतुओं में (वसंत, शरद) मध्यम बलयुक्त होता है। ●

बालकथा

नई रोशनी गांव में

□□ व्यथित हृदय □□

गरमी के दिन थे और दोपहर का समय। गांव में सन्नाटा था। रधिया डोल और रस्सी लेकर कुएं पर पानी लेने के लिए गई थी।

रधिया का बूढ़ा बाप कई दिनों से बीमार था। उसे प्यास लगी थी, पर पीने के लिए पानी नहीं था। रधिया पानी लेने के लिए रोज तालाब पर जाती थी, पर तालाब दूर था और धूप तेज थी। उसने सोचा, क्यों न कुएं से ही एक डोल पानी ले आऊं।

रधिया डोल में रस्सी बांध कर डालना ही चाहती थी, कि दीनानाथ ने देख लिया। दीनानाथ बड़ा घमंडी था।

यदि इतनी बात होती तो कोई बुराई नहीं थी। दीनानाथ तो सबको अपने से बहुत छोटा समझता था। अछूतों की तो हवा बचा कर चलता था। अगर कभी किसी से छू जाता, तो जब तक दस बार नहा न लेता, उसे चैन नहीं मिलता था।

कुएं की जगह पर रधिया को देख कर दीनानाथ आग-बबूला हो गया। वह झपट कर कुएं पर जा पहुंचा। रधिया के हाथ से डोल और रस्सी छीन कर दूर फेंकता हुआ बोला—'तू अछूत की लड़की हो कर कुएं से पानी भर रही है! शर्म नहीं आती! अब कभी आएगी, तो टांग तोड़ दूंगा।'

रधिया कुछ बोली नहीं। बोलती भी तो क्या बोलती? हताश भाव से डोल और रस्सी उठा कर घर लौट गई। रधिया जब घर के भीतर गई तो चारपाई पर पड़े हुए बूढ़े बीमार बाप ने पूछा—'पानी ले आई? प्यास जोर की लगी है। एक गिलास दे तो।'

रधिया ने कुछ जवाब नहीं दिया।

'क्यों न कहूं बापू? 'राम' को खरी-खोटी न सुनाऊंगा, तो किसे सुनाऊंगा? राम ने कभी राक्षसों को मारा होगा, पर आज तो राम केवल अनबोलती मूर्ति हैं। अनबोलती मूर्ति से क्या होगा बापू? मैं खुद दीनानाथ के पास जा रहा हूं।'
बूढ़े बाप ने निराशा भरे स्वर में कहा—'तुम दीनानाथ के पास जा रहे हो, झगड़ा करने? नहीं-नहीं, ऐसा मत करो। यदि बात बढ़ गई, तो फिर गांव में रहना मुश्किल हो जाएगा।'

बूढ़े बाप ने फिर कहा—'क्या बात है? क्या पानी नहीं लाई?'

बूढ़े बाप ने जब दो-तीन बार पूछा, तो रधिया ने उसे सिसक-सिसक कर बताया कि वह किस तरह कुएं पर पानी लेने के लिए गई थी और किस तरह दीनानाथ ने उसके हाथ से रस्सी और डोल छीन कर फेंकते हुए कहा था, अब आएगी तो टांग तोड़ दूंगा।

बूढ़े बाप का मन यह सुनकर दुख से भर गया। वह दुख-भरी आवाज में बोला—'राम-राम, दीनानाथ ने ऐसा किया और कहा? हे राम!'

दूसरे कमरे से कोई बोल उठा—'बापू, क्या राम को पुकारते हो। तुम्हारे राम से कुछ नहीं हो सकेगा।'

बूढ़ा बाप बोला—'ऐसा न कहो सुखवीर!'

सुखवीर रधिया का जवान भाई था। विश्वविद्यालय में बी.ए. में पढ़ता था। गरमी की छुट्टी में घर आया हुआ था। चारपाई पर लेटा-लेटा गांधीजी की आत्मकथा पढ़ रहा था।

बूढ़े बाप की बात सुन कर बोला—'क्यों न कहूं बापू? 'राम' को खरी-खोटी न सुनाऊंगा, तो किसे सुनाऊंगा? राम ने कभी राक्षसों को मारा होगा, पर आज तो राम केवल अनबोलती मूर्ति हैं। अनबोलती मूर्ति से क्या होगा बापू? मैं खुद दीनानाथ के पास जा रहा हूं।'

बूढ़े बाप ने निराशा भरे स्वर में कहा—'तुम दीनानाथ के पास जा रहे हो, झगड़ा करने? नहीं-नहीं, ऐसा मत करो। यदि बात बढ़ गई, तो फिर गांव में रहना मुश्किल हो जाएगा।'

सुखवीर बोला—'नहीं बापू, मैं झगड़ा करने नहीं जा रहा हूं। गांधी पर गोरों ने बड़ा जुल्म किया था। तो क्या उन्होंने झगड़ा किया था? मैं झगड़ा नहीं करूंगा बापू, पर दो बात जरूर कर लेना चाहता हूं।'

बूढ़ा बाप मौन हो गया। सुखवीर चारपाई पर किताब रख कर उठा और दीनानाथ के घर की ओर चल पड़ा। कुछ ही देर में सुखवीर दीनानाथ के कमरे के दरवाजे पर था। वह चारपाई पर लेटा था, हाथ से पंखा झल रहा था।

सुखवीर ने दरवाजे पर खड़े हो कर कहा—'काका, रधिया रोती हुई गई और बताया कि आपने उसे कुएं से पानी न लेने दिया, आपने उसे डराया और टांग तोड़ने की बात भी कह डाली। वह भी तो आपकी ही लड़की है, काका!'

दीनानाथ बोला—'पर वह अछूत है। वह मेरे कुएं से पानी लेने क्यों आई थी? उसने कसूर किया था।' सुखवीर सोचने लगा। उसने सोचते-सोचते कहा—'हां काका! जरूर उसने कसूर किया, पर एक बात पूछता हूं काका, क्या बताइएगा?'

दीनानाथ बोला—'पूछो, क्या पूछना चाहते हो!'

सुखवीर ने सोचते-सोचते कहा—'काका! जिन लोगों ने इस कुएं को खोदा था, क्या वे सब के सब अछूत नहीं थे? क्या मिट्टी-गारा, चूना ढोने वालों में एक भी अछूत नहीं था?'

अब दीनानाथ कुछ क्रोध में आ गया। वह सुखवीर की ओर देखता हुआ गुस्से में बोला—'तू कल का छोकरा, मुझसे बहस करना चाहता है? कुछ पढ़-लिख लिया है तो क्या पंडित बन गया? जा भाग, चला जा यहां से।'

सुखवीर ने सोचते-सोचते फिर कहा—'चला जाऊंगा काका, हमेशा के लिए चला जाऊंगा। अब इस गांव में नहीं रहूंगा। केवल गांव ही नहीं छोड़ूंगा, आपका 'धर्म' भी छोड़ दूंगा। जिस गांव और जिस धर्म में इज्जत न रहे, उसमें रहने से लाभ क्या? अब रधिया कभी दुख पहुंचाने नहीं आएगी।'

दीनानाथ ने ऊंचे स्वर में कहा—'तेरा मन आए वैसा कर। मैं किसी अछूत को कुएं से पानी नहीं भरने दूंगा।'

सुखवीर जाना ही चाहता था कि कोई बोल उठा—'सुखवीर! तू अकेला ही नहीं जाएगा। मैं भी तुम्हारे साथ चलूंगा। मुझे भी नहीं रहना ऐसे घर, गांव में।' बोलने वाला दीनानाथ का जवान बेटा रमानाथ था। वह भी सुखवीर के साथ ही विश्वविद्यालय में ही बी.ए. में पढ़ता था और गरमी की छुट्टी में घर आया था।

रमानाथ की बात सुन कर दीनानाथ चौंक उठा। हैरत के साथ बोला—'तू भी इसके साथ जाएगा, मुझे छोड़ कर, घर-गांव छोड़ कर चला जाएगा तू?'

रमानाथ ने सामने आकर कहा—'हां पिताजी! मैं भी जाऊंगा। जहां कोई आदमी किसी को पानी भरने न दे, जिस 'धर्म' में किसी आदमी के छूने से परहेज किया जाए और जिस धर्म में कोई आदमी किसी आदमी के हाथ का खाना न खाए, वह 'धर्म' क्या मानने योग्य है?'

दीनानाथ की दयनीयता देखने लायक थी। रमानाथ आगे बढ़ता हुआ बोला—'चलो सुखवीर, मैं भी तुम्हारे साथ चलूंगा। मेरे पिता ने एक लड़की के साथ जो जुल्म किया है, मैं उसके लिए प्रायश्चित्त करूंगा।' रमानाथ सुखवीर के साथ जाने के लिए तैयार हो गया।

बेटे के सटीक निर्णय ने दीनानाथ की आंखें खोल दीं। उसके घमंड को ढहा दिया। वह नम्र हो कर बोला—'बेटा! तुम लोगों की बातों ने मेरी आंखें खोल दीं। मैं गलत ही सोचता रहा। प्यासे को पानी पिलाने से बड़ा तो कोई 'धर्म' नहीं। मैं अब समझ गया। अब मेरे लिए कोई अछूत नहीं। मैं समझ गया कि सबका खून एक समान है। जा बेटा! तू रधिया को भेज दे। वह कुएं से पानी ले जाए। अब मैं उसे कभी नहीं मना करूंगा। केवल उसी को नहीं, किसी को अछूत नहीं मानूंगा।'

उस दिन से दीनानाथ के कुएं से सभी अछूत पानी लेने लगे। केवल दीनानाथ के कुएं से ही नहीं, दूसरे कुओं से भी पानी लेने लगे। गांव में ऊंच-नीच की जो गहरी खाई बनी थी, वह भी धीरे-धीरे पटने लगी और आपसी प्रेम बढ़ने लगा। सुखवीर और रमानाथ ने गांव को एक नई रोशनी दे दी। प्रेम और सद्भाव की रोशनी। ❖

हृदय : सर्वधर्म समभाव को समझने का सच्चा मार्ग पृष्ठ 34 का शेष

प्रत्येक मनुष्य अपने मन के अनुकूल प्रवृत्ति में ही रात-दिन लगा रह सके और उसके द्वारा अपनी आजीविका कमा सके, तो कितना अच्छा हो। परंतु, जिस प्रकार के संसार में हम रहते हैं, उसमें ऐसी अनुकूलता सबको प्राप्त नहीं होती। बहुत कम लोगों को प्राप्त होती है। इसलिए उदास होने, निराश होने, बड़बड़ाहट करने से कुछ नहीं होगा। इसलिए धर्म मनोनुकूल प्रवृत्तियों का मार्ग नहीं माना गया, परंतु कर्तव्य का मार्ग माना गया है। अतः मनोनुकूलता की अपेक्षा कर्तव्य को हम पहला आदर देना सीखें, यह पहला धर्म है और मनोनुकूल प्रवृत्तियों को आजीविका के लिए नहीं, परंतु शौक के लिए, निवृत्ति के लिए, वैयक्तिक विकास के लिए रखें—यह दूसरा धर्म है। ❖

पगला बाबा पृष्ठ 39 का शेष

'का हो···, नंबर आ गया का रे···'

पुत्तन की गली का कुत्ता पगला का नाम ले रहा का भाई···, बुलाहट आ गई? मणिकर्णिका घाट, जहां कभी-कभी दिन में चार-चार बार जाना होता है, ··· जाना और आना, वहां आज पहुंचकर आना नहीं होगा का···

'छिद्दू भैया, गला सूखत हौ।' छिद्दू ने पास रखा पानी का लोटा उठाया तो बाबा ने मना कर दिया।

'अरे, ई बंबा के पानी से पियास बुझी? तईं दू बूंद गंगाजल डाल दे।'

छिद्दू भीतर से गंगाजल ले आया, बाबा के मुंह में डाल कर उन्हें भीतर ले चलने की जिद करने लगा।

'अरे, छिदुआ···, हम ठहरे बनारस के राजा। तोहरी ई कोठरी में समइबे का रे ? उ देख हमारा रथ खड़ा हो', बाबा ने अपना कमजोर हाथ बाहर ढिली ठिलिया की तरफ उठाया—'ए ही पर गंगा मैया के पास ले जा। हम निकल जाई त ई रथ के रघू के टाल के नीचे जौन छुटका चबूतरा हौ न···, उहें छोड़ दिहे··· उहें हमार महतारी ई हमरे हाथ में थमौले रहलीं...'

बाबा अपनी जगह लेट गए और आंखें मूंद लीं। छिद्दू पास-पड़ोस में खबर करने दौड़ गया।

थोड़ी देर में बाबा की आंखें फिर आधी खुलीं। भिनसार वे पड़े हैं ···? वे तो मुक्ति की भीख मांगने काशी नहीं आए थे? उठ··· पग्गल! उठ··· तत्··· तत्··· चल···।

हड़बड़ाकर वे उठे, दूल्हेवाली मौर सिर पर रखी और ठिलिया ढिनगाते चल पड़े पुत्तन की गली की ओर, जहां से रात कुत्ते के रोने की आवाज आती रही थी। विश्वनाथ मंदिर जाने की बात जैसे कभी उठी ही नहीं थी मन में। ❖

बीदासर में संपन्न हुआ 145वां मर्यादा-महोत्सव

पदाभिषेक समारोह और दीक्षा दिवस पर मंगलभावनाएं

तेरापंथ धर्मसंघ का 145वां मर्यादा-महोत्सव इस बार चूरू जिले के ऐतिहासिक नगर बीदासर में संपन्न हुआ। 31 जनवरी से 2 फरवरी, 2009 तक तीन दिन के इस समारोह का मुख्य व आकर्षक कार्यक्रम माघ शुक्ला सप्तमी (2 फरवरी) को हुआ। इस अवसर पर **आचार्यश्री महाप्रज्ञजी** ने मर्यादा के महत्त्व को उपस्थित जनमेदिनी के सामने स्पष्ट करते हुए आह्वान किया कि हमें मर्यादाओं को नए सिरे से समझने और उसे मान्य करने का संकल्प लेना चाहिए।

मर्यादा-महोत्सव के इस मुख्य कार्यक्रम का प्रमुख आकर्षण सदैव की तरह इस बार भी **हाजिरी का वाचन** रहा। सभी साधु-साध्वियां और समण-समणियां अपनी दीक्षा के वरीयता क्रम से जब पंक्तिबद्ध होकर के खड़े हुए और मर्यादा-पत्र का सस्वर वाचन करने लगे तो उपस्थित विशाल जन समुदाय रोमांचित हो उठा।

अनासक्त भाव के विकास से सिद्ध होगी मर्यादा की महत्ता

बीदासर के **श्रीमद् मघवा समवसरण** में श्वेत-धवल परिधान में साधु-साध्वियां, समण व समणीगण जब पंक्तिबद्ध खड़े हुए तो उपस्थित जनमेदिनी को यह सहज आभास होने लगा कि जैसे वे नैतिक-आध्यात्मिक रक्षा-सूत्र में स्वाभाविक ही आबद्ध हो गए हैं। इस रोमांचकारी दृश्य को हजारों आंखों ने सहज ही निहारा और दो सौ पचास वर्ष पूर्व आचार्यश्री भिक्षु द्वारा स्थापित तेरापंथ संघ से संबद्ध होना अपना सौभाग्य माना।

मर्यादा-महोत्सव के इस तीन दिवसीय कार्यक्रम से पूर्व 30 जनवरी, 2009 को **जैन श्वेताम्बर तेरापंथी महासभा** के वार्षिक अधिवेशन के कार्यक्रम शुरू हुए। तेरापंथ संघ की इस शीर्ष संस्था के ये कार्यक्रम 'मर्यादा-महोत्सव' के सहवर्ती कार्यक्रमों के रूप में प्रतिवर्ष आयोजित होते हैं।

इस बार 30 जनवरी, 2009 को **संबोधन अलंकरण समारोह** और इसी दिन सायंकाल **मिलन गोष्ठी** संपन्न हुई। इसी कड़ी में 31 जनवरी (वसंत पंचमी) को **श्रेष्ठ एवं विशिष्ट सभा सम्मान-समारोह** हुआ जबकि **महासभा** का **95वां वार्षिक अधिवेशन** 1 फरवरी, 2009 को श्रीसंघ ओसवाल पंचायत भवन (बीदासर) में संपन्न हुआ। महासभा के अध्यक्ष **श्री जसकरन चौपड़ा** ने इस अधिवेशन की अध्यक्षता की। महासभा के इन आयोजनों की विस्तृत रिपोर्ट देखें **जैन भारती** के इसी अंक में पृष्ठ 35 पर।

त्रिदिवसीय मर्यादा-महोत्सव :
प्रथम दिन 31 जनवरी : वसंत पंचमी

हर वर्ष की तरह इस बार भी वसंत पंचमी के रोज मर्यादा-महोत्सव का शुभारंभ **युवाचार्यश्री महाश्रमणजी** के मंगल मंत्रोच्चार के साथ हुआ। **आचार्यश्री महाप्रज्ञजी** ने **मर्यादा पत्रक** की पावन स्थापना की। इसी के साथ ही **मर्यादा का जयघोष** और **मर्यादागीत** का सस्वर संगान हुआ। **आचार्यश्री महाप्रज्ञजी** ने मर्यादा-पत्रक की स्थापना करते हुए कहा—'यह मर्यादा-पत्र पूरे धर्म संघ के लिए छत्र बना हुआ है। इसका एक-एक अक्षर हमारे लिए पवित्र महाग्रंथ है।'

युवाचार्यश्री महाश्रमणजी की ओर से मर्यादा-महोत्सव की विधिपूर्वक उद्घोषणा हुई। बीदासर कन्या मंडल की कन्याओं ने मंगलाचरण प्रस्तुत किया और स्वागताध्यक्ष **श्री भीकमचन्द नाहटा** ने अपना स्वागत भाषण दिया।

मर्यादा-महोत्सव के पहले दिन का आकर्षण तेरापंथ के सेवाकेंद्रों पर साधु-साध्वियों की नियुक्ति होता है। मुख्य नियोजिका **साध्वी विश्रुतविभाजी** ने साध्वी समाज की ओर से तथा मुनिवृंदों की ओर से **मुनि वत्सराजजी** ने सेवाकेंद्रों में सेवाकार्य के लिए साधु-साध्वीवृंद को नियोजित करने की प्रार्थना की। **साध्वी संघमित्राजी** और **मुनि जयकुमारजी** ने सेवा के संदर्भ में अपने सारगर्भित

विचार रखे। 'सेवा एक पवित्र और महान यज्ञ है'—यह कहते हुए सभी साधु-साध्वी सहर्ष आचार्यप्रवर के सम्मुख करबद्ध उपस्थित हुए और सेवाकार्य में नियोजित करने की प्रार्थना की।

सेवाकेंद्रों पर साधु-साध्वियों की नियुक्ति से पूर्व **आचार्यश्री महाप्रज्ञजी** ने कहा कि—'मर्यादा का सम्यक् पालन तभी हो सकता है, जब उसकी पृष्ठभूमि में सेवा का आधार हो। सेवा निर्जरा तथा आत्मशोधन के लिए की जाती है। जिस समाज या संगठन में सेवाभाव प्रमुख तथा अहंभाव गौण होता है वही संगठन या समाज स्वस्थ रहता है। हमारे साधु-साध्वियों में सेवा की प्रबल भावना है। जो साधु-साध्वियां वृद्ध हैं या ग्लान हैं—उनके लिए सेवाकेंद्रों की स्थायी व्यवस्था है।' इस उद्बोधन के साथ ही आचार्यप्रवर ने सेवाकेंद्रों के लिए साधु-साध्वियों की नियुक्ति की घोषणा की और **आचार्यश्री भिक्षु** की ओर से स्थापित उस व्यवस्था की याद दिलाई कि धर्म संघ में दीक्षित होने वाला कोई भी सदस्य सेवा से वंचित न रहे। **आचार्यश्री महाप्रज्ञजी** ने कहा कि—'सेवा का तात्पर्य है चित्तसमाधि।'

सेवाकेंद्रों की नियुक्ति के साथ ही मर्यादा-महोत्सव के प्रथम दिन के आकर्षण की दूसरी कड़ी के रूप में देश और विदेश में संचालित समणी केंद्रों पर समणीगणों की नियुक्ति होता है। आचार्यश्री ने समणीगणों की नियुक्ति के संदर्भ में कहा कि—'संस्कार निर्माण और संतुलित व्यक्तित्व का निर्माण बहुत बड़ी सेवा है।' उन्होंने कहा कि—'सेवा केवल वृद्धजनों की ही नहीं, छोटे बच्चों की भी जरूरी है। हमारी समणियां विदेशों में जाकर कठोर जीवन जीती हैं और जनता की सेवा करती हैं। यह श्लाघनीय है।'

मर्यादा-महोत्सव के प्रथम दिवस का अगला आकर्षण **श्रेष्ठ** एवं **विशिष्ट सभा सम्मान समारोह** होता है। **जैन श्वेताम्बर तेरापंथी महासभा** की ओर से चयनित **श्रेष्ठ सभा** के रूप में **मुंबई** और **बैंग्लौर** (बंगलुरू) को **श्रेष्ठ सभा** तथा **आसीन्द सभा** को **विशिष्ट सभा** का सम्मान अर्पित किया गया। महासभा के उपाध्यक्ष **श्री हीरालाल मालू** ने सभाओं के दायित्वों के संदर्भ में अपने विचार प्रस्तुत किए।

इसी कड़ी में **आचार्यश्री तुलसी** की प्रमुख कृति **कालूयशोविलास** पर आधारित एक परिसंवाद साध्वीवृंद ने प्रस्तुत किया। परिसंवाद की रोचकता हृदयस्पर्शी रही। इस अवसर पर **श्री रूपचन्द दूगड़** ने 'तेरापंथ का इतिहास भाग-2' तथा **श्री बजरंग जैन** ने 'व्रतदीक्षा' ग्रंथ पूज्यवरों को उपहृत किए। **श्रीमती प्रमिला गिड़िया** ने एक हस्तनिर्मित कलाकृति भेंट की।

आज के कार्यक्रम में कर्नाटक राज्य के चिकित्सा मंत्री **श्री रामचन्द्र गौड़ा**, राजस्थान के शिक्षामंत्री **मास्टर भंवरलाल मेघवाल** तथा विश्वविद्यालय अनुदान आयोग के **श्री कृष्णा स्वामी** भी उपस्थित थे। इन्होंने समारोह में अपने विचार भी प्रस्तुत किए। **प्रो. राधाकृष्णन** ने कर्नाटक के चिकित्सा मंत्री **श्री गौड़ा** का परिचय देते हुए अपनी बात रखी।

इस अवसर पर **युवाचार्यश्री महाश्रमणजी** ने प्रेरणा और प्रोत्साहन को किसी भी संगठन के लिए मूल्यवान बताते हुए कहा कि—'यह सब स्वत:स्फूर्त भाव से होना चाहिए।' उन्होंने कहा कि—'अध्यात्म की गहराइयों में पहुंचे व्यक्तियों के लिए इसकी आवश्यकता नहीं, पर सामान्य व्यक्तियों के लिए प्रेरणा और प्रोत्साहन से चित्त आह्लादित होता है और आदमी का तेजस् प्रकट होता है। अत: ऐसे उपक्रमों का स्वाभाविक महत्त्व माना जा सकता है।'

युवाचार्यश्री ने कहा कि—'यद्यपि 'मर्यादा-महोत्सव' का त्रिदिवसीय समारोह आज शुरू हुआ है, लेकिन कल (30 जनवरी) **जैन श्वेताम्बर तेरापंथी महासभा** की ओर से **सम्मान समारोह** का आयोजन हुआ था, अत: यह चतुर्दिवसीय कार्यक्रम हो जाता है।' उन्होंने कहा कि—'महासभा पूज्यवर की ओर से संबोधित व्यक्तियों के लिए **संबोधन अलंकरण समारोह** आयोजित करता है। साथ ही साथ **स्थानीय सभाओं** और **ज्ञानशालाओं** को भी सम्मानित करता है—यह श्लाघनीय है।' युवाचार्यश्री ने कहा कि—'महासभा सभी स्थानीय सभाओं के लिए मां के तुल्य है और जिस तरह एक मां प्रेरणा और प्रोत्साहन देती है, उसी तरह महासभा भी पूरी जिम्मेदारी से यह कार्य कर रही है।' उन्होंने कहा कि—'इसी तरह अनुचित और गलत काम को रोकने का प्रयास भी महासभा को करना चाहिए। ये दोनों काम महासभा के दायित्व की श्रेणी में आते हैं तथा महासभा इनका निर्वाह बखूबी कर रही है।'

इस अवसर पर **युवाचार्यश्री महाश्रमणजी** ने **'कालूयशोविलास'** पर आधारित परिसंवाद प्रस्तुत करने वाली साध्वियों के कार्यक्रम की सराहना की और कहा कि

यह आनंददायी कार्यक्रम था। कार्यक्रम में भाग लेने वाली साध्वियों को उपहार स्वरूप तेरह कल्याणक तथा परिसंवाद के रचनाकार को इक्कीस कल्याणक प्रदान किए गए। 'तेरापंथ इतिहास-2' के संदर्भ में **आचार्यश्री महाप्रज्ञजी** ने प्रशंसनीय टिप्पणी की और कहा कि—'शासनगौरव मुनि बुद्धमलजी की यह कृति सुंदर और पठनीय है।'

पहले रोज के कार्यक्रम का समापन संघगान के साथ हुआ। इस कार्यक्रम का संचालन **श्री भंवरलाल सिंघी** ने किया।

1 फरवरी : दूसरा रोज : पदाभिषेक दिवस

माघ सुदी छठ (1 फरवरी) मर्यादा-महोत्सव का दूसरा दिन है। यह दिन **आचार्यश्री महाप्रज्ञजी** के पदाभिषेक दिवस के रूप में मनाया जाता है। चौदह वर्ष पूर्व इसी रोज **आचार्यश्री महाप्रज्ञजी** तेरापंथ के अनुशास्ता के पद पर आरूढ़ हुए थे। पहली फरवरी को सूरज की पहली रश्मियों के साथ ही पंद्रहवां पदाभिषेक समारोह आनन-फानन में मंगलगीतों की सुर-लहरियों के साथ शुरू हो गया। **मुनि सुव्रतकुमारजी** ने साधु-समुदाय की ओर से जब अभ्यर्थना गीत—'शासन शेखर को शत-शत वंदन'—का आलाप किया तो समूचा तेरापंथ भवन गुंजायमान हो उठा। **युवाचार्यश्री महाश्रमणजी** सहित सभी मुनिवृंदों ने **आचार्यश्री महाप्रज्ञजी** के प्रति अपनी मंगल कामनाएं प्रेषित कीं। इस पदाभिषेक दिवस को **पाटोत्सव** भी कहा जाता है और यह पाटोत्सव संपूर्ण तेरापंथ समाज के लिए उल्लास, उमंग और उत्साह का दिन माना जाता है। इसी उल्लास और उमंग में सैकड़ों साधु-साध्वियों के साथ **साध्वीप्रमुखाश्री कनकप्रभाजी** जब आचार्यप्रवर के सन्निकट पहुंचीं तो अनआयोजित रूप से ऐसा कार्यक्रम आयोजित हो गया, जिसकी केवल कल्पना की जा सकती है। सूर्य की पहली किरण के साथ विशाल जनमेदिनी तो एकत्र हो ही रही थी, पर उनमें साधु-साध्वियां, समण-समणियां और मुमुक्षु बहिनों की उपस्थिति कुछ अलग ही छटा बिखेर रही थी। सभी के चेहरों पर पाटोत्सव का उल्लास भरा गर्व दिखाई दे रहा था।

पदाभिषेक समारोह का विधिवत आयोजन **श्रीमद् मघवा समवसरण** में **युवाचार्यश्री महाश्रमणजी** के मंगल मंत्रोच्चार से हुआ। **मुनि विजयकुमारजी** ने अभिवंदना गीत प्रस्तुत किया। इसी के साथ **मुनि आदित्यकुमारजी, धन्यकुमारजी, गौतमकुमारजी, अनुशासनकुमारजी, संधाशुकुमारजी, मृदुकुमारजी, महावीरकुमारजी** आदि ने अलग-अलग अंदाज में अपनी भावाभिव्यक्तियां दीं। इसी कड़ी में **मुनि सुखलालजी, जितेंद्रकुमारजी, मुदितकुमारजी, जंबुकुमारजी, अक्षयप्रकाशजी, राजेंद्रकुमारजी, स्वस्तिककुमारजी** सहित **साध्वी यशोधराजी, शुभ्रयशाजी, परमयशाजी, समाधिप्रभाजी, पुनीतयशाजी** आदि ने भी अपनी भावाभिव्यक्ति गीत, कविता और वक्तव्य के माध्यम से दी तथा आचार्यप्रवर की अभिवंदना की। **महिला मंडल, बीदासर** सहित **समणीगण, साधुवृंद, साध्वीगण** आदि ने भी अपनी-अपनी गीत रचनाओं से पदाभिषेक समारोह की महत्ता को द्विगुणित कर डाला। पूज्यवरों की प्रसन्नता स्पष्ट झलक रही थी।

बाल मुनियों की प्रस्तुति ने तो जहां एक ओर उपस्थित जन समुदाय को पवित्र भावनाओं से सराबोर कर डाला, वहीं पूज्यवर भी गद्‌गद हो उठे। इस मौके पर **साध्वी राजीमतीजी** व **साध्वी संघमित्राजी** ने अभिवंदना की। इसी प्रसन्नता की प्रतिक्रिया स्वरूप **आचार्यश्री महाप्रज्ञजी** ने यह टिप्पणी भी की—'आज का दिन केवल स्तुतिगान का नहीं, अपितु परीक्षा व कसौटी का दिन समझना चाहिए।' आचार्यश्री ने इसी के साथ यह भी कहा कि—'एक दृष्टि से यह विकास का दिन है और सबने इस दिशा में अच्छा विकास किया है। बाल मुनियों ने भी अच्छी प्रस्तुति दी है।' इसी के साथ आचार्यप्रवर ने प्रसन्नतापूर्वक गीतों के रचनाकारों को 21-21 कल्याणक, संगान करने वाले साधु-साध्वियों को व बाल मुनियों को तेरह-तेरह कल्याणक तथा वक्ता साधु-साध्वीगणों को भी तेरह कल्याणक भेंट किए। साथ ही साधु-साध्वियों को तीन माह तक औषध आदि विगय की बख्शीश भी दी।

महासभा के अध्यक्ष **श्री जसकरन चौपड़ा** ने भी इस मौके पर अपनी भावाभिव्यक्ति प्रस्तुत की। मुख्य नियोजिका **साध्वी विश्रुतविभाजी** ने अपनी भावाभिव्यक्ति में आचार्यप्रवर के चिंतन, लेखन व अध्यात्मनिष्ठा का उल्लेख करते हुए कहा कि—'जिस रोज **गुरुदेवश्री तुलसी** ने अपने प्रभावशाली अंगूठे से आपके भाल पर तिलक किया है, तभी से आपका व्यक्तित्व लगातार द्विगुणित होता जा रहा है। एक तरफ आपके कृतित्व की यशगाथा फैल रही है, तो दूसरी ओर समस्याओं के समाधान के लिए जनमानस

आपकी ओर टकटकी लगाए हुए है।' **साध्वी विश्रुतविभाजी** ने कामना की कि—'हमें भी ऐसा आशीर्वाद दें कि जिससे हम अध्यात्म पथ पर निरंतर गतिमान रहें।' इस मौके पर **साध्वीप्रमुखाश्री कनकप्रभाजी** ने **आचार्यश्री महाप्रज्ञजी** को 21वीं सदी का युग पुरुष और मार्गदर्शक बताते हुए कहा कि—'प्रकाश का कभी आकलन नहीं किया जा सकता। आपके व्यक्तित्व की आभा से संपूर्ण समाज आलोकित हो रहा है और अनेक आंखें आपके मार्गदर्शन के लिए आतुर हैं।' साध्वीप्रमुखाजी ने कहा कि—'अनेक सपने आपकी आंखों में तैर रहे हैं और जो अवदान आपने दिए हैं, उनका फल सबको प्राप्त हो, ऐसी हमारी कामना है। आप इस सदी के अंतिम दशक तक इसी तरह अपने अवदान बांटते रहें और नंदनवन जैसे हमारे धर्म संघ को अभिसिंचित करते रहें।'

समवसरण में हुए इस कार्यक्रम से पूर्व सूर्योदय के साथ जो अनआयोजित कार्यक्रम हो गया था उसमें भी **आचार्यश्री महाप्रज्ञजी** ने अपनी स्वाभाविक प्रसन्नता प्रकट की और कहा कि—**कालूगणिराज** के वरदहस्त और **आचार्यश्री तुलसी** के सुयोग ने मेरा रास्ता सुगम बनाया है। मुझे **युवाचार्य महाश्रमण** जैसा विनीत उत्तराधिकारी मिला है, तो तेरापंथ धर्मसंघ जैसा शासन और आज्ञाकारी श्रावक समाज भी मिला है। मेरे लिए यह सब स्वाभाविक प्रमोद भाव के द्योतक हैं।'

अगला मर्यादा-महोत्सव श्रीडूंगरगढ़ में

इस मौके पर श्रीडूंगरगढ़ के श्रावक समाज की मनोकामना पूरी करते हुए जब **आचार्यश्री महाप्रज्ञजी** ने अगले मर्यादा-महोत्सव की घोषणा श्रीडूंगरगढ़ में की तो उपस्थित जनसमुदाय हर्षित हो उठा। **आचार्यश्री महाप्रज्ञजी** ने द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव और स्वास्थ्य की अनुकूलता के आधार पर सन् 2010 का मर्यादा-महोत्सव, होली प्रवास, महावीर जयंती और अक्षय तृतीया श्रीडूंगरगढ़ में करने की भावना व्यक्त की।

घोषणा से पूर्व **तेरापंथ विकास परिषद** के संयोजक **श्री लालचंद सिंघी** व शासनसेवी **श्री कन्हैयालाल छाजेड़** सहित अनेक श्रीडूंगरगढ़वासियों ने श्रीडूंगरगढ़ के लिए चातुर्मास की भावपूर्ण प्रार्थना की थी।

ध्यान रहे सन् 2010 का चातुर्मास सरदारशहर (चूरू) में पहले ही घोषित हो चुका है। इसीलिए **आचार्यश्री महाप्रज्ञजी** ने वर्ष 2010 का मर्यादा-महोत्सव श्रीडूंगरगढ़ में किए जाने की भावना प्रकट की।

तीसरा दिन : 2 फरवरी : मुख्य कार्यक्रम

माघ सुदी सप्तमी (2 फरवरी) मर्यादा-महोत्सव के तीन दिवसीय कार्यक्रमों का प्रमुख दिन है। इस मुख्य कार्यक्रम का शुभारंभ **युवाचार्यश्री महाश्रमणजी** के मंगल मत्रोच्चार से हुआ। **मुनि दिनेशकुमारजी** ने जब मर्यादा घोष किया और मर्यादागीत का संगान हुआ तो **श्रीमद् मघवा समवसरण** चारों ओर ताजगी भरा महसूस होने लगा। **तेरापंथ युवक परिषद, बीदासर** की ओर से मंगलाचरण हुआ। प्रवास व्यवस्था समिति के अध्यक्ष **श्री बाबूलाल सेखानी** ने स्वागत भाषण प्रस्तुत किया।

आज के कार्यक्रम में सबसे अधिक आकर्षण **मर्यादा-पत्र** का वाचन रहा जो **'हाजिरी'** के रूप में लोकप्रिय है। दीक्षा क्रम से पंक्तिबद्ध खड़े साधु-साध्वियां, समण-समणियों ने हाजिरी का सस्वर वाचन किया। इसी दौरान **आचार्यश्री महाप्रज्ञजी** ने कहा कि—'भारत में जागीरदारी-जमींदारी आजादी के बाद समाप्त हुई, लेकिन **आचार्यश्री भिक्षु** ने 250 वर्ष पूर्व ही दूरदर्शिता भरी मर्यादाओं के जरिए इस प्रथा का उन्मूलन कर दिया। वे विलक्षण मेधा के धनी थे। एक नेतृत्व की परंपरा ने आपसी खींचतान को समाप्त किया, वहीं शासन के प्रति अटूट निष्ठा को अक्षुण्ण भी बनाया। तेरापंथ के चतुर्मुखी विकास का यही रहस्य है।'

आज के कार्यक्रम में **साध्वी कमलश्रीजी** सहित **मुनि रजनीशकुमारजी, मुनि सुब्रतकुमारजी** आदि मुनिवृंदों ने गीत, कविता और वक्तव्य से अपनी भावनाएं प्रकट कीं। तेरापंथ दर्शक मनीषी **मुनि सुमेरमलजी 'लाडनूं', मुनि किशनलालजी,** शासनगौरव **साध्वी राजीमतीजी** ने भी अपने विचार रखे। इस मौके पर **मुनि उदितकुमारजी** ने **ज्ञानशाला** के बारे में बताया।

इस अवसर पर तेरापंथ विकास परिषद के संयोजक **श्री लालचंद सिंघी** ने विकास परिषद की नियम संहिता व श्रावक समाज दिशा-निर्देशिका के बारे में जानकारी दी। शासनसेवी **श्री कन्हैयालाल छाजेड़** ने दिशा-निर्देशिका पूज्यवरों को भेंट की। **तेरापंथ प्रोफेशनल फोरम** के संयोजक **श्री नरेंद्र सामसुखा** ने 'फोरम' की कार्यकारिणी की घोषणा की।

इस अवसर पर **'महात्मा महाप्रज्ञ'** पुस्तक का लोकार्पण

भी हुआ। पुस्तक के रचनाकार **युवाचार्यश्री महाश्रमणजी** ने अपनी कृति **महात्मा महाप्रज्ञ** आचार्यप्रवर के कर-कमलों में उपहृत करते हुए बताया कि—'यह पुस्तक श्रद्धेयवर के जीवन के घटनाप्रसंगों का जीवंत दस्तावेज है।' युवाचार्यश्री ने पूज्य **गुरुदेवश्री तुलसी** का स्मरण करते हुए उनके आदेश को शिरोधार्य करने की बात बताई और कहा कि उन्हीं के आदेशों के फलस्वरूप यह पुस्तक सामने है। उन्होंने कहा कि—'आचार्यप्रवर के अनेक रूप हैं, पर इन सबमें एक अनूठा रूप है 'महात्मा', इसीलिए मैंने पुस्तक को नाम दिया—**'महात्मा महाप्रज्ञ'**।

मर्यादा-महोत्सव के इस मुख्य कार्यक्रम में अपने विचार प्रस्तुत करते हुए **साध्वीप्रमुखाश्री कनकप्रभाजी** ने कहा कि—'जिस संघ में मर्यादा का उत्सव मनाया जाता है, वही संघ चिरायु होता है। संघ का प्राणतत्त्व आचार-निष्ठा है। इसका विकास होगा तो हमारा विकास स्वत: हो जाएगा।'

इस मौके पर **युवाचार्यश्री महाश्रमणजी** ने आचार्य-प्रवर को शांति और करुणा की जीवंत मूर्ति बताते हुए कहा कि—'मैंने कभी इनके व्यवहार और स्वभाव में तेजी नहीं देखी। **गुरुदेवश्री तुलसी** ने जब स्वयं आचार्यपद विसर्जन कर इनको अनुशास्ता के पद पर प्रतिष्ठित किया, तो यह तो स्पष्ट ही है कि आप एक विलक्षण आचार्य हैं।' युवाचार्यश्री ने कहा कि—'हम सब आप की करुणा, मृदुता और शांत व्यवहार का अनुकरण करें—ऐसा आशीर्वाद हमें प्रदान करें।'

मर्यादा-महोत्सव के मुख्य कार्यक्रम के लिए **आचार्यप्रवर की ओर से रचित गीत** का जब सामूहिक संगान हुआ तो समूचा जनमानस रोमांचित हो उठा।

इस अवसर पर **आचार्यश्री महाप्रज्ञजी** ने अपने विशेष उद्‌बोधन में कहा कि—'अपने सामुदायिक जीवन में हम मर्यादानिष्ठ और अनुशासननिष्ठ रहते हुए अधिक से अधिक अनासक्त भाव का विकास करें, इसी से मर्यादा की महत्ता सिद्ध हो सकेगी।' उन्होंने कहा कि—'संकल्प निष्ठा के बल पर कड़ी-से-कड़ी मर्यादा का पालन हो सकता है। इस दृष्टि से यह आयोजन 'निष्ठा' पैदा करने का आयोजन कहा जा सकता है।' आचार्यप्रवर ने कहा कि—**'आचार्यश्री भिक्षु** द्वारा प्रवर्तित यह संघ केवल **'आचार्य'** का नहीं, सबका है। **चतुर्विद धर्मसंघ** का इस पर अधिकार है। अत: इसको मजबूत बनाने और इसके विकास में सबकी महत्त्वपूर्ण भूमिका है। मुझे सात्त्विक गर्व और आत्मतोष है कि संघ के विकास में सदा महत्त्वपूर्ण भूमिका का निर्वाह हुआ है, यद्यपि संघ ने अनेक उतार-चढ़ाव भी देखे हैं।'

आचार्यश्री महाप्रज्ञजी ने जीवन में सकारात्मक परिवर्तन के लिए मैत्री, प्रमोद, करुणा और माध्यस्थ भावना के विकास की जरूरत बताई। उन्होंने कहा कि—'इन्हीं से हम प्रमोद भावना के विकास की ओर अग्रसर हो सकते हैं। हम अपने भीतर ऐसे गुणों का विकास करें।'

मर्यादा-महोत्सव के इन तीन दिनों के कार्यक्रमों के दौरान अनेक कृतियों का लोकार्पण भी हुआ। शासनसेवी **श्री कन्हैयालाल छाजेड़** ने तेरापंथ श्रावक दिशा-निर्देशिका, **श्री लालचंद सिंघी** ने 'तेरापंथ विकास परिषद,: नियम संहिता', **साध्वी उज्ज्वल रेखाजी** ने **मुनि रमेश कुमारजी** की कृति 'दिशा सकारात्मक जीवन की' एवं **साध्वी संघप्रभाजी** द्वारा आलेखित 'आनंद की रश्मियां और अमरत्व की तलाश' समर्पित की। **साध्वी कंचनकुमारीजी (लाडनूं)** ने **साध्वी सिरेकुमारीजी** का जीवनवृत्त 'पौरुष की प्रतिमा', **साध्वी मंजुरेखाजी** ने अपना काव्य संग्रह 'ऊष्मा', **साध्वी गवेषणाश्रीजी** ने 'अंहिसा की सूक्ष्म व्याख्या, क्रिया के संदर्भ में', **साध्वी सिद्धप्रभाजी** ने 'परिक्रमा महामंत्र की', **साध्वी पुण्ययशाजी** ने 'नमस्कार महामंत्र : एक अनुशीलन', **श्रीमती संतोष भंसाली** ने **साध्वी संघप्रभाजी** का गीत-संग्रह 'स्वर-मंदाकिनी', **श्री दीपचंद सुराणा** ने लाडनूं चातुर्मास का पोस्टर, **श्री जीतमल नाहटा** ने मित्र परिषद, कोलकाता द्वारा प्रकाशित 'तिथि दर्पण', **श्री बाबूलाल सेखानी** ने 'जय तिथि पत्रक', चेन्नई के वरिष्ठ श्रावक **श्री बाबूलाल आच्छा** ने समाजभूषण स्व. श्री जयवंतमलजी सेठिया की स्मृति में शताब्दी वर्ष पर प्रकाशित 'जस-सुजस' ग्रंथ पूज्यवर को उपहृत किया।

मर्यादा-महोत्सव के इस पुनीत अवसर पर **आचार्य महाप्रज्ञ मर्यादा महोत्सव व्यवस्था समिति** के अध्यक्ष **श्री बाबूलाल सेखानी**, मंत्री **श्री कन्हैयालाल गिड़िया** और स्वागताध्यक्ष **श्री भीखमचन्द नाहटा** ने भी अपनी कृतज्ञता प्रकट की।

ध्यान रहे इस 45वें मर्यादा-महोत्सव के अवसर पर 89 साधुगण, 308 साध्वीगण, 3 समणगण व 104 समणीगणों की उपस्थिति रही।

79वां दीक्षा दिवस : युवा दिवस

तीन दिन का मर्यादा-महोत्सव इधर संपन्न हुआ कि

उधर दो दिन बाद ही माघ-सुदी दशमी (5 फरवरी) का पावन दिन आ गया। यह दिन **आचार्यश्री महाप्रज्ञजी** का दीक्षा दिवस है और इसे युवा दिवस के रूप में मनाया जाता है। **युवाचार्यश्री महाश्रमणजी** ने जब यह बताया कि—'आज 78 वर्ष के संयम-पर्याय का अनुपालन कर आचार्यवर ने 79वें वर्ष में प्रवेश किया है और तेरापंथ धर्म संघ में किसी भी मुनि या आचार्य ने इतने लंबे संयम-पर्याय को नहीं पाया है, तो संपूर्ण जनमानस सहज अभिवंदना के लिए उत्कट हो हर्षित हो उठा। युवाचार्यश्री ने जब यह मंगलकामना की कि—'पूज्यवर का संयम-पर्याय ज्यादा से ज्यादा आगे बढ़े और हमें मंगल-पथ-दर्शन मिलता रहे, तो सब ओर से प्रमोद भाव के स्वर सुनने को मिले। **आचार्यश्री महाप्रज्ञजी** का यह **79वां दीक्षा दिवस युवा दिवस** माना जाता है और **युवाचार्यश्री महाश्रमणजी** ने इसी का उल्लेख करते हुए युवा पीढ़ी से आह्वान किया कि—'वे व्रत की चेतना को जगाएं और अध्यात्म के प्रति अपनी रुचि को बढ़ाएं, युवा पीढ़ी की ओर से इस मौके पर यही सबसे बड़ा उपहार होगा।'

इस दिन प्रात:काल से ही साधु-साध्वियों की मंगल भावनाएं व्यक्त होने लगी थीं। प्रात:कालीन कार्यक्रम में **मुनि विजयकुमारजी, श्रेयांसकुमारजी, साध्वी समताश्रीजी, गवेषणाश्रीजी, मधुस्मिताजी, मृदुप्रभाजी, कल्याणयशाजी** और **तरुणप्रभाजी** आदि ने अपनी भावनाएं प्रकट कीं। **श्रीमती सरोज दूगड़** और **श्री निर्मल नखत** ने भी अपनी भावाभिव्यक्तियां प्रकट कीं।

युवाचार्यश्री महाश्रमणजी ने अपने संबोधन में कहा कि—'अध्यात्म स्वीकरण का अर्थ है—कषाय विजय की साधना की तरफ अग्रसर होना। **आचार्यश्री महाप्रज्ञजी** ने दस वर्ष की अवस्था में मुनि जीवन स्वीकार कर इस पथ पर अग्रसर होना स्वीकार कर लिया था, जो हम सभी के लिए प्रेरणादायी है। हम कामना करते हैं कि आचार्यवर का पथदर्शन हमें अनवरत मिलता रहे।'

इस मौके पर **आचार्यश्री महाप्रज्ञजी** ने जीवन में किसी को भी अदीक्षित नहीं रहने की प्रेरणा देते हुए कहा कि—'व्रत और नियम के अभाव में कभी भी प्रशस्त मार्ग सुलभ नहीं होता, खतरे बने ही रहते हैं। अत: एक गृहस्थ को भी दीक्षा लेनी चाहिए।' उन्होंने बताया कि—'भगवान महावीर द्वारा प्रणीत **श्रावक के बारह-व्रत** ऐसी आचार संहिता है, जो वर्तमान समस्याओं के संदर्भ में नई दृष्टि देती है। हर नागरिक को इसका पालन करना चाहिए।'

अपने दीक्षाकाल का स्मरण करते हुए **आचार्यश्री महाप्रज्ञजी** ने कहा कि—'वही पौधा पनप सकता है जिसे अच्छा सिंचन मिले। मुझे **गुरुदेवश्री कालूगणि** और **आचार्यश्री तुलसी** जैसे शिक्षागुरु का वात्सल्य तथा अनुशासन-दृष्टि मिली और मेरा विकास होता गया। यह गुरुकृपा का ही फल है कि मैं इस मंजिल तक पहुंच पाया। आज के भौतिकवादी युग में ऐसे धर्मसंघ का मिलना सौभाग्य की बात है।'

इस तरह मर्यादा-महोत्सव के तीन दिनों के प्रेरक कार्यक्रम की कड़ी में यह 79वां दीक्षा दिवस (युवा दिवस) भी संपन्न हुआ। ❖

जानकारियों के आधार पर
—भवानी सोलंकी

कृपया ध्यान दें

जैन भारती के लिए रचनाएं भेजते समय कृपया निम्नोक्त बिंदुओं का अवश्य ध्यान रखें—

● आपकी रचना कम से कम 1500–2000 शब्दों से लेकर 2500–3000 शब्दों के मध्य हो। कुछेक आलेख जैन भारती के एक पृष्ठ से भी कम आकार के होते हैं, जो हमारे लिए अपर्याप्त हैं। जैन भारती के लिए ऐसे आलेख काम में लेना संभव नहीं। अतः इतने छोटे आलेख न भेजें।

●● रचनाएं 'फुलस्केप' कागज पर एक तरफ हाथ से लिखी या टाइप की हुई हों। पूरा हाशिया अवश्य छोड़ें। दो पंक्तियों के बीच भी पर्याप्त स्थान होना जरूरी है।

●●● फोटोकॉपी न भेजें अथवा सुस्पष्ट हो तो ही भेजें।

कृपया उपरोक्त हिदायतों की ओर पूरा ध्यान देकर हमें सहयोग करें।

बिनोदकुमार चोरड़िया, जैन श्वेताम्बर तेरापंथी महासभा, 3, पोर्चुगीज चर्च स्ट्रीट, कोलकाता-1
के लिए जैन भारती कार्यालय, गंगाशहर, बीकानेर (राज.) से प्रकाशित एवं प्रेषित और सांखला प्रिंटर्स, बीकानेर द्वारा मुद्रित।

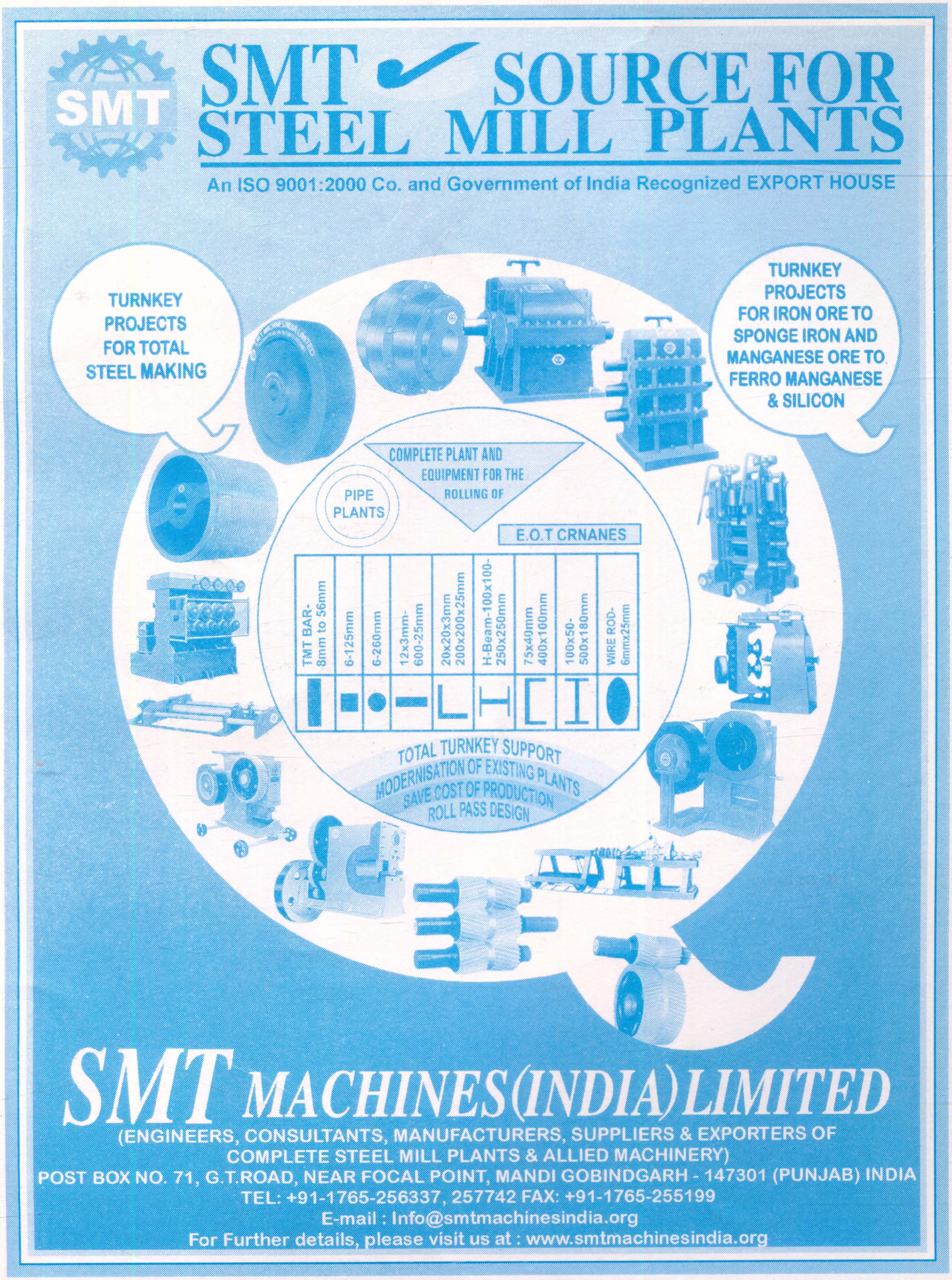
SMT
SMT ✓ SOURCE FOR STEEL MILL PLANTS
An ISO 9001:2000 Co. and Government of India Recognized EXPORT HOUSE
TURNKEY PROJECTS FOR TOTAL STEEL MAKING
TURNKEY PROJECTS FOR IRON ORE TO SPONGE IRON AND MANGANESE ORE TO FERRO MANGANESE & SILICON
COMPLETE PLANT AND EQUIPMENT FOR THE ROLLING OF
PIPE PLANTS
E.O.T CRNANES
TMT BAR- 8mm to 56mm
6-125mm
6-260mm
12x3mm- 600-25mm
20x20x3mm 200x200x25mm
H-Beam-100x100- 250x250mm
75x40mm 400x100mm
100x50- 500x180mm
WIRE ROD- 6mmx25mm
TOTAL TURNKEY SUPPORT
MODERNISATION OF EXISTING PLANTS
SAVE COST OF PRODUCTION
ROLL PASS DESIGN
SMT MACHINES(INDIA) LIMITED
(ENGINEERS, CONSULTANTS, MANUFACTURERS, SUPPLIERS & EXPORTERS OF COMPLETE STEEL MILL PLANTS & ALLIED MACHINERY)
POST BOX NO. 71, G.T.ROAD, NEAR FOCAL POINT, MANDI GOBINDGARH - 147301 (PUNJAB) INDIA
TEL: +91-1765-256337, 257742 FAX: +91-1765-255199
E-mail : Info@smtmachinesindia.org
For Further details, please visit us at : www.smtmachinesindia.org

जैन भारती, अप्रैल, 2009
प्रेषण दिनांक 28 मार्च, 09

भारत सरकार पं. सं. : 2643/57 ■ डाक पंजीयन संख्या : बीकानेर/048/2009-2011

With best compliments from :

HIRALAL MALOO
HEMANT MALOO
(SUJANGARH)

Maloo Constructions

A-204, IInd Floor, 25/26, Brigade Majestic
Ist Main Road, Gandhinagar, **Bangalore** 560009
Phone : Office : 22264530, 22265737, Res. : 23403233, 23402756
Mobile : 9844027560 ◆ e-mail : maloocons@vsnl.com

प्रेषक : जैन श्वेताम्बर तेरापंथी महासभा, तेरापंथ भवन, महावीर चौक, गंगाशहर, बीकानेर 334401 • फोन : 0151-2270779

नोट : आपके पते में कोई कमी, अशुद्धि या पिन-कोड नहीं हो तो कृपया सूचित करें। ग्राहक संख्या अवश्य लिखें।